प्रकाशक :
राधाबाई पंडित,
शिवाजी प्रकाशन-मन्दिर,
लखनऊ ।

संगम

[कहानी संग्रह]

मुद्रक :
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

स्व० श्री० लक्ष्मी देवी चिताम्बरे

मेरी रानी !

मैं तुम्हें "नेने" कहकर पुकारता था। 'संगम' प्रकाशित होने की सूचना मुझे तब मिली जब तुम्हारी जीवन नैया इसपार से उसपार जा लगी थी। मैं इसपार से चिल्लाया "नेने ! मेरी कहानियों का संग्रह प्रकाशित हो रहा है।"

तुम्हारे कानों तक मेरे कातर कण्ठ की ध्वनि पहुँच न सकी, आज मैं फिर इसपार आ खड़ा हुआ हूँ आँखों से स्नेह का अर्घ्य दे, 'संगम' को अंजुली में रख चिल्लाकर कह रहा हूँ कि "मेरी नेने, मेरी कहानियों का संग्रह तुम्हें समर्पित है इसे स्वीकार करो" यदि उस पार तुम्हारे कानों तक मेरी कातर ध्वनि पहुँच सकी तो स्वप्न में आकर कह देना कि 'संगम' के लिये बधाई।

वियोगी

नारायण श्यामराव चिताम्बरे

दो बूंद

मैं संगम के लिये भूमिका लिखने बैठा हूँ।

'संगम'। मेरी मौलिक कहानियों का संग्रह प्रकाशित करने की सूचना श्रीमती राधाबाई पंडित की ओर से उन क्षणों में मिली जब कि मेरी आँखों के सम्मुख उपस्थित था जीवन और मृत्यु का रोमांचकारी 'संगम'।

'संगम'! हाँ, रोमांचकारी संगम !!

महाब्रह्म, महाविष्णु और महाकाल के संगम के वे क्षण, उफ् कितने रोकांचकारी थे वे क्षण। रोमांचकारी थे, भयावह नहीं थे। प्रेरक थे, संहारक नहीं थे। संहार प्रलय की अवस्था है और मृत्यु केवल परिवर्तन की स्थिति। प्रेरणा परिवर्तन की जननी है। महाकाल प्रेरक थे और परिवर्तन अवश्यम्भावी था।

मैं खड़ा खड़ा उन्हें देख रहा था। वे आँखें बन्द किये पलंग पर लेटी थीं। मेरी धर्मपत्नी थीं वे, सोलह बर्ष के हज़ारों क्षणों की साथिन। मेरे जीवन के प्रत्येक क्षण को जिन्होंने प्रेम की गंगा से सींचा, मेरी प्रेम-ज्योति को स्नेह के दान से जिन्होंने प्रति क्षण प्रज्वलित रखा, जो प्रत्येक क्षण मेरी अनुभूतियों को अपने आत्म समर्पण से पुलकित करती रहीं—वे ही महाब्रह्म, महाविष्णु और महाकाल के संगम का अभूतपूर्व हृदय को कम्पित कर देने वाला दृश्य देख रही थीं। जिसे देखने के लिये नयनाकाश के दोनों क्षितिज मिलाने पड़ते हैं। क्षितिज के सम्पुटों का संगम होते ही आकाश गंगा के सलिल के दो बूंद ढुलक पड़े। एक बृद्धा बोली "बेचारी को अपने बच्चों की याद आरही है"—एक तरुणी बोली "बेचारी अपने पति का स्मरण कर रही होगी"—पास में खड़े एक विधुर प्रौढ़ने मेरे कंधे पर हाथ रख इतने जोर से उसाँस छोड़ा कि मेरा सारा शरीर रोमांचित उठा और मैं-मैं यह सब खुली आंखों देख रहा था। सुन रहा था। मेरी भावुक किन्तु हार्दिक लालसा थी कि मैं उनके हृदय में घुसकर उनमें एकरूप हो देखूं कि आकाश गंगा के निर्मल

सलिल के वे दो बूंद आंसू—पति के वियोग से बह उठे हैं अथवा संतान के स्मरण मात्र से निकल पड़े हैं—किंवा महाब्रह्म महाविष्णु, महाकाल के रोमांचकारी संगम को देख बह रहे हैं। महाब्रह्म की सृजन शक्ति तथा महाविष्णु की जीवनी शक्ति को नष्ट कर महाकाल प्राण ज्योति को आत्म ज्योति में एक रूप कर रहे होंगे तथा वे वियोग की अननुभूत अवस्था को अनुभव कर कातर हो उठी होंगी किंवा पारिवर्तन की अवस्था पा उसपार उज्वलता के आलोक भरे प्रदेश को निरख हर्ष से आर्द्र हो उठी थीं। कौन कह सकता है क्या था ! क्या नहीं था ! मैं मानव तो केवल यह अनुभव कर पाया कि मिलन की आतुरता नष्ट हो रही है और वियोग की कातरता अपनी सपूर्ण शक्ति के साथ कोलाहल मचा रही है।

वे चली गई हैं—किसी के रोके नहीं रुकीं। वे क्षण मुझे भुलाये नहीं भूलते। खुली आंखों विश्व को बिसार मैं उन क्षणों को अचेतन हो निहार रहा हूँ।

"संगम" के सभी पात्र उनके सोलह वर्ष के अमूर्त सहवास से जनित हैं। यह उनकी अदृश्य संतान यदि स्वदेश का कुछ भी उपकार कर सकीं-और संगम के पाठकों का मनोरंजन कर सकीं तो मैं दुख में सुख का अनुभव करूंगा।

श्रीमती राधा बाई पंडित को धन्यवाद देने की अवस्था में मैं नहीं हूँ। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दी साहित्य सेवियों से मेरा 'संगम' कराने में वे ही कारण हुई हैं।

मैं संगम के लिये भूमिका लिखने बैठा था किन्तु शब्दों का संसार न बसा सका—बरबस दो बूंद आंसू ढुलक पड़े हैं मेरी आंखों से। पाठक क्षमा करें।

मुंगावली
२६ । ६ । ४५
शुक्रवार

नारायण श्यामराव चिताम्बरे

विषय सूची

संगम

(१)

"मैंने सारी व्यवस्था कर ली है। आप निश्चिंत रहिये, हाँ बिल-कुल निश्चिंत रहिये। भला, मैं आपको कभी धोखे में डाल सकता हूँ! इस बात के विरुद्ध जिन जिनकी मुद्राएँ आरक्त हो उठी थीं, उनको पीली पीली सुवर्ण मुद्राओं के पीले रंग में रंग दिया है, जिससे उनकी वह आरक्तता उस पीलेपन में छिप गयी है। कार्य आप निश्चिंतता-पूर्वक कीजिये।"

'किंतु फिर भी—।'

'सो क्या कहने की बात है! वह तो मेरे समझने की और आपके चुप रहने की बात है। वह सब कुछ हो जायेगा। यह लीजिये।'

और पाँच सौ रुपये के नोट पाकर उसका चेहरा ऐसे ही खिल पड़ा जैसे किसी भिखारीने चोरी से अन्न के भण्डार में प्रवेश किया हो और उसके चेहरे पर आनन्द, आश्चर्य एवं भय के भाव उदित हो उठे हों। पाँच सौ रुपये के नोट जिन उँगलियों में दबे थे वे उँगलियाँ काँप रही थीं और थामनेवाले का हृदय उठ उठकर गिर गिर पड़ता था।

सफेद मूछों पर बायाँ हाथ फेरते हुए उस दाता ने अपना यौवन-हीन दक्षिण कर उसके कंधे पर रख दिया और चश्मे से अपनी ज्योति-हीन आँखों के सामने बैठे मनुष्य की ओर देखकर कहा 'क्यों पुरोहित, और भी चाहिये?—'।

आँखों में दीनता साकार हो उठी थी और उस पर कृतज्ञता का पानी चढ़ गया था। गद्गद कंठ से दरिद्रता में पिसी उसकी जर्जर

आत्मा बोल उठी 'आप निश्चिंत रहिये, सब कुछ हो जायेगा। अधिक माँगना—यही क्या कम है? पर—'।

हाँ, हाँ, मैं सब समझता हूँ भाई, 'सब समझता हूं'—रूमाल से मस्तक का पसीना पोंछते हुए उसने कहा—'दूसरे ब्राह्मणों के लिए यह लीजिये' और उसने बड़े तपाक से और दो सौ रुपये के नोट निकालकर पुरोहित के हाथ में थमा दिये।…'

कृतज्ञता ने मनुष्यता को कुचल दिया था। वह उस दाता के पैर छू कर बोला—'आप देवता हैं'।

दाता ने हँस दिया। उस हँसी में 'देवता' शब्द के प्रति भीषण व्यंग था। उस उपहास भरी व्यंगमयी हँसी का रहस्य उस ब्राह्मण की आँखें जिनमें सात सौ रुपये की चमक भरी थी, न समझ सकीं।

दाता ने कहा 'देवता और दाता—कैसे मधुर शब्द हैं, पुरोहित। आपने ये शब्द प्रयुक्त कर मुझे बहुत उपकृत किया है। अच्छा, एक बात और सुनिये। मैंने सारी व्यवस्था कर ली है। किसी बात का डर नहीं रहा है, फिर भी हमें फूँक फूँक कर पैर रखना होगा। सम्भव है ऐन वक्त पर कोई गड़बड़ हो जाये।'

पुरोहित के मन में शंका चक्कर काटने लगी। उन्होंने कहा 'आपने सरकारी आज्ञापत्र ले लिया है न?'

पुरोहित की घबराहट पर उस प्रौढ़ दाता ने हँस भर दिया। फिर कहा 'हाँ हाँ, आप बिलकुल निश्चिंत रहें। मैंने सरकारी आज्ञापत्र ले लिया है। इतने में ही आप डर गये?'

पुरोहित अपनी निर्बलतापर लज्जित हो गया।

प्रौढ़ महाशय का नाम है माधव प्रसाद। अधेड़ उम्र है और वृद्धावस्था में पदार्पण कर चुके हैं। अपने जीवन के बीते युग का पुनर्निर्माण करने का निश्चय कर बैठे हैं। उन्हें सफलता मिल चुकी है। चेहरा आनन्द से दमक रहा है और आँखें प्रसन्नता से चमक रही हैं।

माधव प्रसाद ने कहा 'पुरोहित जी' वधू का पिता बहुत भला आदमी है, उसने मेरा कहना एकदम मान लिया। रुपये तो मैंने बाद में दिये पुरोहित, उन लोगों ने मेरी खूब आवभगत की—चाय पिलायी, जलपान कराया। गरीब ब्राह्मण, पच्चीस रुपये माहवार पाने वाला बेचारा गरीब क्लर्क ! उसकी तीन लड़कियाँ विवाह होने को हैं ! कैसी भीषण परिस्थिति ! ओह !

'और पुरोहित उसकी उम्र तो मुझसे भी छोटी है। देखने वाले तो यही कहेंगे कि वह उम्र में मुझसे बड़ा है। मैं तो समझ नहीं पा रहा हूँ कि कैसे उसके बाल इतनी जल्दी सफेद हो गये। कैसे उसके सारे शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयीं। कैसे उसकी आँखों की ज्योति मन्द हो गयी।

'उसकी गृहिणी वास्तव में लक्ष्मी है पुरोहित ! बुद्धिमती भी है, उसने चाय और जलपान का सामान उसी बड़ी लड़की के हाथों भेजा जो एक बोझ सी उनकी छाती पर बैठी है। लड़की भी बड़ी सुशील है, सुन्दर है। जिसके घर जायगी, घर को आलोक से भर देगी। राज-रानी होने योग्य है पुरोहित, राजरानी होने योग्य। किसी गरीब के घर जाती तो उसके सारे गुण मिट्टी हो जाते।'

पुरोहित पर अब सात सौ रुपयों का पूरा असर हो चुका था। न तो अब उसके हाथ काँप रहे थे, न चेहरे पर घबराहट के चिह्न थे। बड़ी शान से कहा—'राय बहादुर साहब, आपने उसकी पुत्री से विवाह करने का संकल्प करके उसे बड़े संकट से उबार लिया। आज दो तीन साल से परेशान था। भला बेचारा गरीब दो हजार रुपये दहेज कहाँ से दे सकता !'

'यही तो बात थी पुरोहित, बेचारा पहले तो समझा कि मैं अपने लड़के रमेश के लिए ही बात पक्की करने आया हूँ किन्तु जब उसने सुना कि मेरा विचार स्वयम् ही विवाह करने का है तो उसका व

उसकी पत्नी का मुख म्लान हो गया। मेरी नजर से यह बात छिपी नहीं रही। मैंने जेब से दो हजार के नोट निकाल कर उनके सामने रख दिये। अपने जीवन में कदाचित् उन्होंने इतने ढेर भर नोट न देखे होंगे। घबरा गये पुरोहित, दोनों घबरा गये और लगे एक दूसरे का मुँह ताकने तथा मेरी ओर देखने। पुरोहित सच जानो दोनों की आत्मा क्रन्दन करती हुई उनकी आँखों में मैंने देखी। उसने कहा 'यह आप क्या करते हैं, रायबहादुर—कन्या देकर पैसा लेना! न—न—यह न होगा। आप इन्हें उठा लीजिये। बगैर दहेज लिए तो कोई विवाह करने को राजी नहीं है और आप बिला दहेज लिए विवाह करने को तैयार हैं, यही क्या कम आनन्द की बात है? पुरोहित, मेरी आँखों में आँसू आ गये। कैसा सरल है यह मनुष्य, कैसी पवित्र आत्मा है पुरोहित, इसे ही भारतीयता कहते हैं। भारतीय गरीबी में भी अपनी आत्मा का खून न होने देगा। तब, जानते हो मैंने क्या कहा? रुपये लेने के लिए मैंने उन्हें क्या कहा? बताओ पुरोहित?'

पुरोहित सोच में पड़ गया।

'बताओ जरा सोचो—'

पुरोहित सिर खुजलाने लगा।

'बताओ—जरा अक्ल से काम लो—'

पुरोहित न सोच सका।

तब माधव प्रसाद ने हँसकर कहा—'इतनी सी बात भी न समझ सके, पुरोहित। मोंदू ही रहे। अरे मैंने कहा—यह रुपये मैं तुम्हें नहीं दे रहा हूँ। तुम्हारी जो और दो लड़कियाँ हैं, उन्हें दे रहा हूँ। उनके लिए अच्छे से अच्छे वर ढूँढ़कर यह रुपया दहेज में देकर विवाह कर देना, समझे?—क्यों पुरोहित, कैसी सोलह आना बात रही, सच कहा। और मैंने भी सोचा कि यह उपकार भी क्या कम है। तीनों लड़कियाँ एक साथ निबट जायँगी। अच्छा, अब मैं चलता हूँ। सारा

काम कैसी समझदारी के साथ करते हो, देखूँ—।'

'आप बेफिक्र रहिये लेकिन र. मे.'

'तुम उसे नहीं जानते पुरोहित, वह पितृभक्त लड़का है। फिर भी मेरे किसी भी काम में रुकावट डालने का उसे कोई अधिकार नहीं है। जानते हो, यह सारा, वैभव, धन, घर-द्वार किसका है? मेरा, मेरा, मेरा। मैं स्वतंत्र हूँ। मैं पिता हूँ, वह मेरा लड़का है। मेरी आज्ञा सिर नीचा करके उसे माननी चाहिये, समझे? उसकी ओर से जरा भी मेरे इस कार्य में प्रतिकार हुआ तो जानते हो उसका क्या परिणाम होगा? नहीं जानते? तुम्हारे सिर में सड़े आलू भरे हैं।—मैं उसे घर से बाहर निकाल सकता है। इस धन का एक पैसा भी वह न पा सकेगा। मेरे कार्य में बाधा! सर्वथा असंभव। माधो प्रसाद कभी यह बात सहन न करेगा, समझे? अच्छा, नमस्कार! मैं चलता हूँ—सारा काम साव-धानी से करना—।'

(२)

माधव प्रसाद बाहर आ गये। उन्होंने देखा दूर एक ताँगा खड़ा है। वहाँ जाने पर देखा कि बूढ़े ताँगेवाले से एक तेरह चौदह वर्ष की लड़की आँखें मटका, मटका कर बात कर रही है। क्षण भर के लिए माधव प्रसाद की आँखें स्थिर होकर उस लड़की की ओर लग गयीं। उन्हें स्मरण हो आया कि जीवन में ऐसी मोहक, सरलता भरी, काली और बड़ी आँखें और भी कहीं देखी अवश्य हैं।

लड़की ने अनायास ही इनकी ओर देखा। माधव प्रसाद के हृदय में एक अपार स्नेह का सागर उमड़ पड़ा। लड़की लजा कर भाग गयी। एक प्रकाश की रेखा सी खिंच गयी। ताँगे वाले ने कहा 'कहीं जाना है बाबू जी?'

'हाँ, चलो।'

वे ताँगे में बैठ गये—यंत्र की भाँति, मन्त्र मुग्ध से। कैसी सुन्दर

आँखें हैं ! पहिले कहीं देखी हैं। कहाँ देखी हैं ? धीरे धीरे अतीत के अञ्चल से वैसी ही दो आँखें झाँकने लगीं। उन्हें स्मरण हो आया कि उनकी पुत्री नीरा की आँखें ठीक ऐसी ही थीं। नीरा मेरी, मेरी नीरा, सुन्दरता की पुतली। आज होती तो इतनी ही बड़ी हो जाती। वह लड़की कौन थी ? आवेग में उन्होंने सोचा ताँगेवाला उसे जानता है, उससे ही पूछा जावे कि वह कौन है ? पर एकाएक पूछने का साहस न हुआ। अचानक पूछ बैठे 'क्यों जी यह तुम्हारा घोड़ा मोटा ताजा तो खूब है, परन्तु चलने में बड़ा कमजोर है।'

'हुजूर, अब उसका बुढ़ापा है। तेरह साल हो चुके हैं अन्नदाता, इसी तरह इसी ताँगे में चलते चलते। वह तो जानिये, उसको खिलाई पिलाई खूब होती है। खिदमत भी खूब करता हूँ। सरकार पूरे दो घंटों तक इसकी मालिश करता हूँ। इसीलिए तो यह इतना तैयार बना दीख रहा है, नहीं तो अभी तक कब का चल बसा होता। आखिर बुढ़ापा ही तो ठहरा, बुढ़ापे में आदमी क्या, जानवर क्या, अन्दर ही अन्दर घुल जाते हैं। जवानी की बात कुछ और ही है। जवानी-के मजे—

बूढ़ा ताँगे वाला बहक रहा था और माधव प्रसाद चिढ़ गये थे। उन्होंने चिल्लाकर कहा 'कितनी बकवाद करते हो जी ? चुप रहो। ताँगा ज़रा जल्दी हाँको, मुझे जरूरी काम है।'

क्रोध और आदेश के सामञ्जस्य ने बूढ़े ताँगे वाले को एक चाबुक घोड़े पर फटकारने के लिए मजबूर कर दिया।

किन्तु माधव प्रसाद चुप न रह सके। वे आँखें बराबर उनको दीखने लगतीं और उनका कौतूहल बढ़ता जाता था। उन्होंने ताँगे वाले से फिर कहा 'बूढ़ा है तो इसे पेन्शन क्यों नहीं दे देते ? तेरह साल से इसकी कमाई खा रहे हो, फिर भी रहम नहीं आता। दूसरा घोड़ा खरीद क्यों नहीं लेते।'

'यही इरादा था अन्नदाता, पर घर में जवान बेटी बैठी है। पहिले उसकी शादी कर दूँ, तब कहीं घोड़ा खरीदने की सोचूँगा।'

'हाँ ताँगे वाला वह लड़की कौन थी, जो तुमसे आँखें मटका-मटका कर बातें कर रही थी?'

'सब खुदा का फजल है सरकार। वह आपकी ही लड़की है।' खुदा की देन को अपनी कहकर पुकारने का साहस ताँगे वाले को न हुआ।

'आपकी ही लड़की!' नीरा का शैशव का हँसता-सा चेहरा माधव प्रसाद को दीखने लगा। उन्होंने भर्राये गले से कहा 'मेरी भी एक लड़की थी। उसकी आँखें भी ठीक तुम्हारी लड़की जैसी ही थीं। पर चार साल पहिले—' वह आगे न बोल सके।

ताँगे वाले को भी सांत्वना देना अब लाजिम मालूम हुआ। उसने कहा 'बड़ा बुरा हुआ सरकार, खुदा उसे बहिश्त दे।'

अपने बिखरे मन को सम्भाल माधव प्रसाद ने कहा—'इसी लड़की की शादी की फिक्र में हो?'

"हाँ सरकार, आजकल एक ही लड़की का होना भार हो जाता है। मैं तो इसी की फिक्र से मरा जा रहा हूँ। जिन्हें तीन-तीन चार-चार लड़कियाँ होती होंगी, उनकी क्या हालत होगी, खुदा जाने। हमारे पड़ोस में एक पंडित जी रहते हैं। उनके तीन लड़कियाँ हैं। तीनों जवान हो चुकीं। शादी एक की भी नहीं हुई। बेचारे बड़े परेशान हैं। सुना है, बड़ी लड़की की शादी तय हो रही है। लयला, जब आप आये थे तब, यही तो कह रही थी कि वह उन पंडित जी के यहाँ गयी थी, तब जिसकी शादी ठहरी है वह रो रही थी।'

'क्यों? रो क्यों रही थी?'

उसके बाप ने उसकी शादी एक बूढ़े से तय की है। बूढ़ा, खूब मालदार है। दो हजार रुपये दिये हैं उसने। लयला ने कहा कि

लड़की कह रही थी, 'ऐसी शादी से तो जहर खा लेना अच्छा है। मैं तो अन्नदाता, ताजिंदगी लयला बगैर शादी के रह जाये पर कभी भूलकर भी बूढ़े के गले न बाँधूँगा।'

'लयला की शादी किसी बूढ़े से न करोगे ! पाँच हजार रुपये मिलने पर भी नहीं !'

'अन्नदाता रुपया भला किस काम आयेगा ! रुपया लेकर लड़की के गले पर छुरी चलाना ठीक नहीं है। मैं मर जाऊँगा, मगर कभी...।'

एक मोटर सामने से निकली, ताँगे वाले ने सजग होकर ताँगा एक ओर कर दिया। उधर से एक साइकिल आ रही थी। बड़ी फुर्ती से उसे भी बचाया।

माधव प्रसाद के हृदय में ममता का सागर उमड़ पड़ा। कहीं आज उनकी नीरा जीवित होती तो वह एक 'वर' की तलाश में घूमते फिरते। एक क्षण की फुरसत न होती उन्हें। चाहे जितना धन देना पड़ता, देते। चाहे जितनी तकलीफ उठानी पड़ती, उठाते। परन्तु नीरा को आजीवन सुखी करने के लिए अच्छा से अच्छा वर ढूँढ़ते—नवयुवक, सुन्दर, धनी, सुदृढ़, देवता जैसा। वह क्या कभी नीरा को किसी वृद्ध 'वर' के गले बाँध सकते थे ? आज नीरा नहीं है, किन्तु पिता का हृदय उनके पास है। पुरुष का हृदय उसकी विशालता में न जाने कहाँ विलीन हो गया।

घर आ गया था। ताँगेवाले को उन्होंने एक अठन्नी दी। वह खुश हो गया। दुवाओं के पुल बाँध दिये। उसने घोड़ेको ललकारा, ताँगा चलने लगा। माधव प्रसाद ने कहा—'ठहरो'।

वह ठहर गया। वे ताँगे के निकट जाकर बोले—'देखो मियाँ, लयला की शादी किसी बूढ़े से हरगिज न करना, समझे ! कोई अड़चन पड़ जाये तो सीधे मेरे पास चले आना। और देखो लयला को कभी

कभी मेरे यहाँ ले आते रहो।'

ताँगे वाले ने तीन दफा झुककर सलाम किया। कहा 'खाक-सार तो हुजूर के कदमों का अदना गुलाम है।' ताँगा चलने लगा। माधव प्रसाद घर की ओर मुड़े। फिर कुछ सोच खड़े हो गये। फिर ताँगे वाले को पुकारा। ताँगा ठहर गया। वे उसके पास जाकर बोले 'देखो मियाँ, यह पुरजा लयला को देकर कहना कि वह उस पंडित जी की बड़ी लड़की को दे दे। समझे, भूलना नहीं।

'नहीं, नहीं—हरगिज न भूलूँगा अभी लीजिये सरकार, अभी जाकर दिये देता हूँ'।

ताँगा अब चल ही पड़ा और थोड़ी देर में कोलाहल में खो गया।

(३)

माधव प्रसाद ने घर में प्रवेश किया। रमेश से बरामदे में ही भेंट हो गयी। वह चिंतित बैठा कुछ सोच रहा था। वे उसके सामने जाकर खड़े हो गये और बोले 'रमेश, सारी बातें तय हो गयी हैं। अब कोई खटका नहीं रहा। बेटा! अब सिर्फ तुम्हारी सम्मति चाहिये।'

रमेश को पिता के इन शब्दों पर क्रोध भी आया और आश्चर्य भी हुआ। रमेश को अपने पिता से अरुचि हो गयी थी। बुढ़ापे में विवाह करना कितना अमानुष! ओह। फिर भी अपने को संभाल कर उसने कहा—'मेरी सम्मति आप न पूछिये। मैं तो आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहता हूँ। जो काम आप कहेंगे—जो ड्यूटी मेरे सपुर्द होगी—वह मैं करूँगा।"

'रमेश, बेटा! मुझे तुमसे यही आशा है। मुझे पूरा विश्वास है कि तुम कभी मेरे निर्णय में बाधा न दोगे।'

रमेश ने मन ही मन सोचा, पिता जी सठिया गये हैं। जैसे विवाह करके बड़ा भारी पुण्य संपादन कर रहे हों! वह कुछ बोला नहीं, फिर भी आंखों में घृणा की छाया छा गयी।

माधव प्रसाद ने कहा 'चलो बेटा, मेरे साथ अभी बाजार चलो। अपने लिए बढ़िया सा कपड़ा लेकर एक नया सूट सिलवा लो।'

रमेश मन में सोच रहा था, कितना आनन्द हो रहा है इस वृद्ध को। मन उसका 'छि, छि' कर उठा। उसने कहा—'अभी ऐसी जरूरत क्या है पिता जी, कपड़े बन जायेंगे, आज नहीं कल।'

'वाह रमेश, विवाह तीन ही दिन बाद तो है। कपड़े सिलने भी तो चाहिये।'

'मेरे पास क्या कम कपड़े हैं पिता जी, मैं उन्हीं में से पहिन लूँगा।'

'अरे! बारात में क्या पुराने कपड़े पहिनेगा?'

'हाँ, नये कपड़ों से मुझे अरुचि हो गयी है।'

'अरे, रमेश यह कैसे हो सकेगा? दूल्हा ही अगर पुराने कपड़े पहिनेगा तो जाति वाले मुझे क्या कहेंगे?'

रमेश विस्फारित आँखों से पिता की ओर देखने लगा। उसके मुख से अचानक निकल गया 'दूल्हा कौन, मैं?'

माधव प्रसाद ने स्थिर दृष्टि से पुत्र की ओर देख भर्रायी आवाज से कहा 'तो क्या मैं? रमेश, यह उल्टी गंगा कैसे बह सकेगी बेटा! मेरी उम्र क्या अब विवाह करने की है? जिसके शरीर में रक्त न रह गया हो, सिरके कुल बाल सफेद हो गये हों, सारे शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयी हो, जो जीवन की संध्या के बिलकुल निकट पहुँच गया हो, वह क्या विवाह करेगा!

रमेश ने कहा 'पर पिता जी, मेरी परीक्षा जो है। मेरे विचार में तो एम० ए० पास कर लेने पर···।'

'नहीं, यह न होगा। तुमने अभी वचन दिया है कि मेरी जो आज्ञा होगी वही तुम मानोगे, मैं पिता की हैसियत से तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि'—वे आगे न कह सके। रमेश के पास जाकर उसके मस्तक

पर हाथ फेरते हुए बोले 'बेटा! तुम नहीं जानते, आज मेरे हृदय में कैसी भीषण हलचल मच गयी है। मुझे आज नीरा की याद आ रही है। मेरी नीरा आज इस घर में फूल सी हँसती, तितली सी उड़ती और कोयल सी कूकती रहती। सारा घर एक पवित्र आलोक से आलोकमय रहता। हँसती सी वह जिधर भी निकल पड़ती, प्रसन्न प्रकाश की किरणें बिखर पड़तीं। रमेश, यह घर, इस घर का सूनापन, मुझे खाये जा रहा है। जब तक नीरा के रिक्त स्थान की पूर्ति न होगी, मुझे चैन न आयेगा। मैं जीवित न रह सकूँगा। मैंने उन पंडित जी की लड़की को भी चिट्ठी लिख दी है कि उसका विवाह मुझसे न होकर तुमसे होगा। क्या मेरा वचन सार्थक न करोगे, मेरे लाल!'

रमेश पिता के चरणों पर गिर पड़ा। उसके मुख से निकल पड़ा 'आप देवता हैं।'

रमेश की आँखों से यमुना बह चली।

पिता की आँखों से गंगा—

और इसी समय लयलाने ब्राह्मण की लड़की को वह चिट्ठी देकर कहा—'बहिन, यह तुम्हारी चिट्ठी है।'

लड़की ने चिट्ठी पढ़ी, उसका चेहरा खिल उठा। एक आनन्दमयी आरक्तता उसके मुख पर फैल गयी। आँखों से सरस्वती बह निकली।

गंगा और यमुना के पवित्र संगम में यह अदृश्य सरस्वती आकर मिल गयी।

एक अपूर्व त्रिवेणी संगम!

वह शराबी था

घाघरा फट गया था। ओढ़नी टूक टूक हो गई थी। चोली के तार तार बिखर गये थे। सीबू उसकी ओर देखता और उसकी आंखों में आंसू आ जाते। एक वेदनामय कसक उसके हृदय में उत्पन्न हो जाती। वह अबकी उपज में से सबसे प्रथम पारू को कपड़े बनवायगा। चाहे सरकार की लगान बाकी रह जाय या बनिये का ब्याज। वह पारू को अब अधढ़की न रहने देगा।

जीरा बेचकर सात रुपये घर ले आया। बनिये ने न माना, मूल न सही, ब्याज अवश्य ले लिया।

पारू ने कहा—"तुम्हारे कपड़े फट गये हैं, एक कुरता बनवालो, धोती लेलो और एक साफा —।"

सीबू ने कहा—"नहीं, मेरे कपड़े इतने फटे नहीं हैं। तुम्हारी तो लाज ही बिखर रही है।"

"वह तो तुम्हारी छाया से ढंकी है। मेरे कपड़े अभी फटे नहीं हैं।"

"मेरे भी आंखें हैं—।"

पारू हंस पड़ी। जैसे स्वर्ग का सुख पा लिया हो।

और पारू की इस हँसी ने सीबू को उत्तेजित कर दिया। वह अभी बाज़ार जायगा, कपड़ा लायगा और——वह चला—।

"कहाँ जा रहे हो?"

"बाज़ार।"

"अभी।"

सीबू ने अपनी पारू की ओर नज़र भर देखा, पारू के शरीर पर जैसे सोना बरस पड़ा।

सीबू जा रहा था। जैसे क़िला फतह करने जा रहा हो। सोच रहा था। पारू की गोरी गोरी देह पर नीली ओढ़नी, हरी चोली, और— और काला घाघरा खूब सुहाता है। वही लूंगा।

बाज़ार के आरम्भ में ही एक दूकान थी। कपड़े की नहीं; थी एक दूकान।

सीबू रुका। कुछ सोचा। फिर चला, फिर रुका। चला, रुका। मुड़ा, दूकान की सीढ़ियां चढ़ने लगा, आखरी सीढ़ी पर रुका। सौंधी, सौंधी मस्त गंध ने उसकी चेतनता हरली। वह चला, रुका, खड़ा रहा, सोचने लगा। कुछ सोच कर सीढ़ियाँ उतरने लगा।

एक जो वहाँ बैठा था बोल उठा "पैसे न होंगे तभी चला।"

दूसरे ने कहा "उधार न देगा ठेकेदार—।"

तीसरे ने कहा "अजी, बेईमानी आजकल बहुत चल रही है। ठेकेदार अब उधार नहीं देता।"

सीबू अब यह अपमान न सह सका। क्या वह कंगाल है। कुरते की फटी जेब में हाथ डाला, पूरे सात रुपये हैं। तेजी से दो सीढ़ियाँ चढ़ गया। भोली भाली हंसती सी पारू उसे दीखने लगी। रुका वह, नहीं-नहीं-हरग़िज नहीं—वह लौट जायगा। वह सड़क की ओर चला।

एक ने कहा "पैसे हैं—"

दूसरे ने कहा "फिर?"

एक आंख को मटका कर पहिले ने कहा "घरवाली से डरता है।"

दूकान में हंसी गूंज उठी। सीबू रुका।

एक ने कहा "हाय भरका हो कलेजा—"

दूसरे ने कहा "दिल लगाने के लिये—"

तीसरे ने दाहिने हाथ को हवा में उड़ाते हुए कहा "नहीं, नहीं

शराब पीने के लिये।"

हा, हा, हा; दूकान हंसी से गूंज उठा।

सीबू चोट खाये हुए सांप की तरह रुधित हो गया। वह अभी एक क्षण में प्रमाणित कर देगा कि उसके पास पैसे हैं। वह घरवाली से नहीं डरता और वह हाथ भर का कलेजा भी रखता है।

उसने खनन् खनन् सातों रुपये दूकानदार के सामने फेंक दिये। जैसे किसी राजपूत ने मर मिटने के लिये केशरिया बाना पहिन लिया हो।

खुद पी, मज़ाक़ उड़ाने वालों को भी पिलाई।

"शाबास, शाबास, दोस्त तुम हो दिलावर, वाकई यार हाथ भर का क्या चार हाथ का कलेजा रखते हो सपूत।"

सीबू राजा था। पीनेवाले उसकी प्रजा। और ठेकेदार उसका गुलाम।

आधी रात बीत गयी—।

पारू बैठी सोच रही है। कपड़ा लाते होंगे। उनके आते ही उन्हें खिला पिला कर सोने को कह दूंगी। मैं रात में ही कपड़े को नाप कर टुकड़े करके रख दूंगी। कल सारे दिन कुछ काम है नहीं। घाघरा और चोली सी लूंगी। नदी जाकर स्नान कर आऊंगी। नये कपड़े पहिनने हैं न? बाल भी तो धोने होंगे। बालों में डालने को घी नहीं है। रधिया की मा से मांग लूंगी। वह भी तो मुझ से चीज बस्त मांग कर ले जाती है। पारू सोचती है—कितने दिन हो गये हैं उसने बन संवर कर सीबू का स्वागत नहीं किया है। फटे कपड़ा में बनना क्या शोभा देता। अब कल नये कपड़े पहिन कर वह सीबू का स्वागत करेगी। चोटी गूंथूंगी। अपनी बड़ी बड़ी आंखों में काजल डालकर उन्हें कजरारी बनायगी। उसे याद हो आया कि जिस दिन इस घर में उसने पैर रखा उसी रात को सीबू ने कहा था कि "पारू तुम्हारी आंखें मानो

कमल की दो पंखुड़िया हैं।" सीबू ने अपने हाथों से आंखों को सहला, कर उन्हें चूम लिया था। कल भी वह सीबू को अपनी इन्हीं मस्ती भरी आँखों की शराब पिलाकर बेहोश कर देगी——' पर ज्यों ज्यों रात बीतती गयी, पारू का कलेजा धड़कने लगा। जब आधीरात का समय हो गया तब शंका हुई कि कहीं शराब तो—नहीं, नहीं मेरी कसम खाकर उन्होंने शराब पीना छोड़ दिया है, वह अब कभी न पियेंगे......'

धड़ाम—!

पारू चौंकी, तंद्रा से जाग देखा सीबू दरवाज़े में औंधा पड़ा है। सिर में चोट लगी है और उसमें से खून बह रहा है। वह दौड़ी, सीबू को उठाकर फटी गूदड़ी पर सुला दिया। पारू घबरा गई। वह किस स्वर्ग की कल्पना कर रही थी, और हो क्या गया है। उसके सीबू ने, शराब पी है! हाय! उनकी आँखों में आंसू आ गये।

सीबू के सिर से खून बह रहा था। पारू ने चट से अपनी फटी ओढ़न फाड़ कर उसके सिर में बांध दी। कल वह क्या ओढ़ेगी?

सारी रात पारू जागती रही। सीबू का मस्तक अपनी गोद में लिये टूटी झोंपड़ी में फैले हुए अंधकार में बैठी रही। प्रकाश की एक भी किरण नहीं, अँधेरा, अँधेरा, भीषण अँधेरा। पारू को इसी अँधेरे में बैठे बैठे जीवन निशा बिता देनी है। दिन निकल आया। सीबू ने आंखें खोलीं। उसने कातर शब्दों में पुकारा पारू।"

'हां'

"तुम सारी रात बैठी रही?"

"......!"

"इसी तरह मेरा सिर गोद में लेकर?"

पारू फिर भी चुप रही। कुछ न बोली।

"मैंने कल फिर शराब पी" सीबू ने साफे के फटे पल्ले से मुंह

ढंक लिया। कंपित कंठ से वह फिर बोला—"मैं पापी हूँ पारू! तुम्हारे कपड़े फटे हैं और मैंने शराब पी! मैं जानवर हूँ!"

पारू फिर भी चुप रही!

अब की सीबू ने प्रतिज्ञा के स्वर में कहा—"पर अब कभी शराब न पिऊँगा! विश्वास रखो पारू, अब कभी शराब न पिऊँगा। परमेश्वर की क़सम, तुम्हारे सिर की कसम। दुनिया के सारे पाप मेरे सिर पर गिरें जो अब मैं कभी शराब पिऊँ!"

पारू चुप है। वह सोच रही है। पिछली बार भी तो इन्होंने इसी प्रकार कसमें खाईं थीं, फिर भी......। वह समझ गयी कि वह कोरे बादल हैं। वह सिर्फ गरजना जानते हैं, बरस कर सरसता प्रदान करना नहीं। पृथ्वी की अत्याधिक तप्त तृषित अवस्था देख कभी दो बूंद बरसा कर प्रेम का अभिनय करेंगे, परन्तु 'हवा' का मृदु-मस्त स्पर्श पाते ही उसके साथ रंगरेलियाँ मनाने कब कहां उड़ जायेंगे। पता भी न चलेगा।

और उसकी चुप्पी सीबू को खल गई। वह आवेग से उठ कर खड़ा हो गया और तेजी से बोला 'पारू, तुम बोलती नहीं हो, समझती हो, हर बार कसमें खा कर भी मैं शराब पीता हूँ। मेरे कहने का एत-बार नहीं। जब तुम्हारा यह विश्वास है तो वैसाही फल भी तुम पाती हो। पति का विश्वास नहीं, ऊँः। क्यों पारू मैं शराब पीता हूँ इसमें तुम्हारा क्या जाता है? मैं रात दिन मेहनत करता हूँ खून का पसीना बना कर कमाता हूं और शराब पीता हूं। तुम्हारे बाप का पैसा तो मैं उड़ाता नहीं हूँ—तब तुम कौन हो रोकने वाली।"

पारू अब अपने को न संभाल सकी। रो पड़ी। उसके हृदय का दुख सहस्र धाराओं में बहकर आँखों की राह फूट निकला। वह सब कुछ सह सकती थी पर उसके निरपराध पिता—, फिर भी बेचारी चुप रही। आंसू फटी गूदड़ी पर टप् टप् गिर रहे थे।

सीबू ने देखा पारू रो रही है, वह एकाएक सामने बैठ गया और

प्रेम पूर्वक बोला "तुम रो रही हो पारू ? न रोओ मेरी रानी ! मैं क्या करूँ पारू ? मेरे यह पापी पैर अपने आप उस दूकान पर ले जाते हैं, तब वहां की वह मस्त सौंधी सौंधी सुगंधि मेरा होश भुला देती है और —। न रोओ पारू अब कभी न पिऊँगा !"

सीबू ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर छाती से लगा लिया, तथा अपना मुंह उसके मुख के पास ले गया। अब भी शराब की दुर्गंध उसके मुख से खूब आ रही थी। पारू इसे सहन न कर सकी। अनायास ही उसने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया, जान बूझ कर नहीं, परन्तु सीबू ने सोचा पारू ने उसका जान बूझ कर अपमान किया है। वह चिढ़ गया। उसका हाथ उसीकी छाती पर दे मारा और उसे ढकेल दिया। बोला "पति से घृणा करती है पापिन ! समझ ले तेरे ही पाप के कारण मुझे बार बार शराब पीने की इच्छा होती है। पति से घृणा करने का पाप क्या कम होता है ? इसी पाप का फल है कि तुम आयी तब से ही मैं कंगाल हो गया। तुम रो रही हो, रोओ खूब रोओ ! मैं रोज शराब पिऊँगा। अभी अभी शराब पिऊँगा——"

सीबू झोंपड़ी के बाहर चला गया, लौटा नहीं। पारू उस ओर देख रही है। अब उसके आंसू सूख गये हैं। आंखों की आर्द्रता सूख गई है जीवन की चेतनता सदा के लिये सो गई है। उसके जीवन में यही बदा है। उसके जीवन की खेती उसी दिन सूख गई जिस दिन सीबू ने पहिले पहल शराब पी, अब वह कभी हरी न होगी।

पगली

विवाह को आठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। हम दोनों सुखी थे; किन्तु गृहस्थ-जीवन में पुत्र का न होना एक ऐसा अभाव है, जो प्रत्येक क्षण अखरता रहता है; हम सन्तान-हीन थे। पड़ोसियों के जब कभी पुत्र उत्पन्न होता, मेरे हृदय में पीड़ा उठती। उसकी आँखों में आँसू आ जाते। हमारी सूनी कुटिया को अपनी भोली चितवन से आलोकित करने वाला, तुतली बोली के संगीत से निनादित तथा सरल व मोहक हँसी से उसमें जीवन-सञ्चार करने वाला, बस, एक पुत्र—एक ही पुत्र! यही अमर अभिलाषा थी। इसी से हम दोनों का जीवन सुखी हो सकता था, किन्तु आशा मृगजल बनी हुई थी!

इस अभाव से वह दुखी थी। मुझे सुखी करने के लिये चाहे वह अपने मुख पर हास्य लाने का भले ही प्रयत्न करे, फिर भी अनायास उसके मुख पर दुःख की छाया उदित हो उठती, उसका सुन्दर मुख करुणा से रञ्जित हो जाता, और वह अपने को संभाले रखने में असमर्थ हो उठती।

आज उसके मुख पर वास्तविक आनन्द नाच रहा था। नित्य की भाँति आज वह दुखी नहीं थी। वह हँस रही थी। मुख पर एक स्वर्गीय आनन्द झलक रहा था। वह आनन्द, जो संसार में भाग्यवान् स्त्री को ही प्राप्त होता है। मैंने हंस कर पूछा, "कितने ही दिनों के अनन्तर तुम्हारे मुख पर सच्ची प्रसन्नता का खिलवाड़ देखने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। किस विशेषता से प्रेरित होकर तुम हंस रही हो?"

मुख पर मधुर मुस्कराहट नाच उठी। अपने कोमल हाथ में मेरा हाथ लेकर उसने कहा, "पहिचानो, इनाम दूंगी।"

"पीहर से पत्र आया होगा।"

"ऊं-हूँ ।"

"कोई अच्छा उपन्यास पढ़ने को मिल गया होगा ।"

"ऊं-हूँ ।"

"कोई कालेज की सहपाठिनी मिलने आ रही होगी ।"

"मुँह बनाकर उसने कहा 'ऊं-हूँ' ।" उसकी आंखें मेरी खिल्ली उड़ा रही थीं ।

"ऊं-हूं—ऊं-हूं—फिर क्या बात है, बताओ जी ?"

उसने शरारत-भरी निगाह से मेरी ओर देख कर कहा, "कहो, मैं हार गया ।"

"अच्छा, परीक्षक महोदय ! आपका यह विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने में असमर्थ है । आप अपनी असीम कृपा से इसे उत्तीर्ण कर दें ।"

उसकी बड़ी-बड़ी प्रभामयी आंखें नीची हो गईं । लज्जा का आवरण उसके मुख पर पड़ गया । वह चुप हो गई । मैंने कहा, "अरे, तुम तो चुप हो गई !"

"मैं नहीं कहूँगी ।"

"कहना ही होगा ।"

"मुझे लज्जा आती है, कहने में ।"

"कुछ भी हो, तुम्हें मेरी शपथ है ।"

पैर के नाखून से जमीन कुरेदते हुए उसने वीणा विनिन्दित स्वर में कहा, "उजड़े उपवन में बसन्त का आगमन हो रहा है । गहन अन्धकार से परिपूर्ण कुटिया में दीपक प्रज्वलित होने की सम्भावना हो गई है ।"

मैंने उसकी ओर देखा, उसने मेरी ओर । मैंने देखा, उसकी आँखों में स्वर्गीय आनन्द नाच रहा है । मुख पर एक अनुपम लाली खिल पड़ी है ।

(२)

बालक हुआ—खूब स्वस्थ, सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट। कितनी सुन्दर हैं, उसकी अलकावलियाँ! भुवनमोहिनी आँखों में कितना तेज है, मुख पर मधुर मुस्कराहट कितनी मोहक है! उसके आनन्द का वारापार नहीं है। उसने उसका नाम मोहन रक्खा है। हम दोनों आनन्द की चरम सीमा पर पहुँच गए हैं।

मोहन अब चल-फिर लेता है। तुतला कर बोल भी लेता है। और वह तो मोहनमय हो रही है! सारा दिन मोहन के लालन-पालन में बीत जाता है। मोहन के सम्बन्ध में जरा भी मुझसे लापरवाही हो जाती है, तो वह मुझे डाटने लगती है। कहती है, "वाह जी! तुम बड़े लापरवाह हो। ठण्ड कैसी कड़ाके की पड़ रही है। कल से कह रही हूँ, ऊनी स्वेटर ले आओ; किन्तु तुम किसी की क्यों सुनने लगे?' फिर हँस कर कहती हैं, "आज अगर नहीं लाये, तो फिर हाँ......।"

मैं भी हँसकर कहता, "नहीं तो क्या करोगी?"

मेरी ओर प्रेम से देखती हुई वह कहती—"ठीक करना होगा।"

वह अन्तर और वाह्य, दृश्य और अदृश्य में, मोहनमय हो रही थी।

मुझे आज आफिस से आने में बिलम्ब हो गया था। आते ही उसने त्रसित व व्यथित तथा क्रोध मिश्रित स्वर में कहा—"घर की जरा तो फिक्र रखते! देखो, आज मोहन को ज़ोर का ताप आया है। लाल हो रहा है। कब से राह देख रही हूँ। ज़रा डाक्टर को ले आओ न?"

मेरे हृदय पर एक धक्का-सा लगा। काँपते हुये हाथ से मैंने मोहन के सिर तथा पेट पर हाथ रखा। ताप बहुत तेज था। मैं दौड़ा हुआ डाक्टर के यहाँ पहुँचा। डाक्टर आये! उन्होंने उसे देखा, दवा दी और चले गये। मोहन का ताप कम नहीं हुआ। सारी रात हम दोनों

जागते रहे। वह रो रही थी, मैं उसे सान्त्वना दे रहा था। प्रातःकाल बालक की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई। उसे हिचकी बँध गई थी। और वह छटपटा रहा था। अरुण काल के सुन्दर पवित्र समय में मोहन को एक ज़ोर की हिचकी आई और उसकी आँखें सदा के लिये बन्द हो गईं। सारा संसार हँस रहा था। हम दोनों रो रहे थे। मैंने घबराकर विजया की ओर देखा। उसकी आँखों से आँसुओं की अखण्ड वर्षा हो रही थी। करुणा, भय, उद्वेग और शोक का सम्मिश्रण उसके मुख पर देख, मैं सहम गया। आंखें फाड़कर वह मोहन की ओर देखने लगी। घिग्घी बँध गई। क्या सोच रही थी, यह वही जाने।

एक दीर्घ निश्वास छोड़कर मैं उठा और पड़ोसियों को ख़बर दी, और अपने हृदय को पत्थर बनाकर मैं अपने मोहन को, अपने हाथों से, पत्थर तथा मिट्टी में रख आया। जगत् की नश्वरता का परिचय पाकर मैं उद्विग्न हो उठा!

उस दिन से उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। सारा शरीर पीला पड़ गया था। आंखें निस्तेज हो रही थीं। मुख सूखकर 'रुद्राक्ष' हो गया था। अब वह रो नहीं रही थी, अन्दर घुली जा रही थी। वह किसी से बोलती न थी, न हँसती थी यहाँ तक कि मुझसे भी बहुत कम बोलने लगी थी। मैं हारकर चुप हो जाता। ज्यादा इसरार न करता था। वह एकान्त प्रिय हो गई थी। मोहन का एक फोटो था, उसे देखा करती। एक दिवस मैंने छुपकर, जब वह मोहन के फोटो की ओर देख रही थी, देखा हँसी की क्षीण रेखाएँ उसके मुख पर उदित हो उठीं और उन्मत्त होकर उसने उस फ़ोटो को चूमकर छाती से लगा लिया। मैं रो उठा। चुपचाप अपने कमरे में चला गया। मन-ही मन मैंने कहा, 'अभी ज्वालामुखी धधक रही है; कब उबल पड़े, कोई पता नहीं।'

(३)

एक दिन ऑफ़िस से आकर मैंने देखा, वह द्वार पर चिन्तित-सी बैठी हुई किसी की प्रतीक्षा कर रही है। मैंने समझा मेरी बाट जोह रही है। फिर भी मैंने पूछा, "क्यों, आज किस की प्रतीक्षा हो रही है?"

उसने चिंतित स्वर में कहा, "आज दोपहर से ही मोहन खेलने चला गया है। अभी तक लौटा नहीं है। जाते समय मैंने बतला दिया था कि बेटा, खेलकर उनके आने से पहले आ जाना। बड़ा खिलाड़ी है, अभी तक नहीं आया है।"

मैं समझा, वह मेरी हंसी कर रही है; किन्तु ऐसी हंसी, हृदय को रुला देने वाली हँसी, और वह—कोमल हृदया, करुणा मूर्ति करे? असम्भव! फिर भी मैंने कहा, "व्यर्थ की बातों में क्या सार है? उसे भूल जाओ, अन्दर चलो।"

"वाह-वाह! भला, दोपहर से उसने कुछ भी नहीं खाया। खेल-कूद कर थक गया होगा। आते ही कहेगा, 'अम्मा, भूख लगी है। तब मैं छाती से चिपका लूँगी और अन्दर ले जा कर भोजन कराऊँगी। अब तुम्हीं कहो, उसके बिना अन्दर कैसे चल सकतीहूँ?"

अब की मेरा हृदय भर आया। मैंने भरे हुए गले से कहा, "उसे भूल जाओ, विजया! क्या वह कभी आसकता है? वह स्वर्ग में अमर बालों के साथ खेल रहा होगा!"

उसने मेरे मुँह पर हाथ रखते हुए चिल्ला कर कहा, "चुप-चुप मेरे मोहन को स्वर्ग में क्यों भेज रहे हो, जी? मेरे लाल की मङ्गल कामना तो करते नहीं, और उसे कोस रहे हो। खबरदार, अब जो कुछ कहा......नहीं तो......हाँ।"

पति के चरणों में प्रतिक्षण लीन रहने वाली विजया के मुख से यह शब्द सुन कर मैं अवाक् रह गया! उसकी ओर मैंने गौर से देखा। आँखों की पुतलियों में पागलों का-सा उन्माद नाच रहा था। मैं चुपचाप

उदास होकर ऊपर चला गया।

एक दिन मैंने देखा, विजया ने भोजन परोस दिया है। और थाली के सम्मुख बैठी पङ्खा झल रही है। मुख से कहती जा रही है, "खालो, मेरे कन्हैया, एक कौर तो खालो! थक गए होगे, खालो, मेरे लाल!"

मेरे पैर की आहट पाकर उसने मेरी ओर देखकर कहा, "देखो तो, कब से ख़ुशामद कर रही हूँ, पर ऐसा खिलाड़ी है कि मन खेलने में ही लगा रहता है। खाना-पीना—सब कुछ भूल जाता है। बड़ी मुश्किल से पकड़ पाई हूँ। हाथ ही नहीं आता था। मैं यशोदा मैया-सी पीछे-पीछे दौड़ती जाती थी। तुम जरा धमकाओ तो इसको, ऐसी आदत अच्छी नहीं!" उसने इस ढङ्ग से कहा, मानों मोहन के भविष्य की उसे बड़ी चिन्ता हो। मैं कुछ नहीं बोला—बोलता भी क्या? हाँ दो अश्रु-विन्दु मेरी आँखों से ढुलक पड़े।

उसी दिन रात के दो बजे मेरी नींद अचानक खुली मैंने सुना, पास के कमरे में विजया गीत गा रही है। मैं उठा, चुपचाप द्वार में से झाँककर देखा, विजया पालना झुला रही है और गा रही है। मुख पर वात्सल्य झलक रहा है। मैंने पास जाकर कहा, "विजया, सो जाओ तुमने अपनी यह क्या अवस्था करली। सारी रात जाग रही हो बीमार हो जाओगी।"

उसने गम्भीर होकर शान्ति-से कहा, "आज सारी रात बीत गई। मोहन सो नहीं रहा है बड़ा खिलाड़ी है, उठ-उठकर भागता है। बड़े प्रयत्न से अब कहीं सुला पाई हूँ। धीरे-धीरे बोलो, नहीं तो जाग उठेगा। मेरी सारी मेहनत अकारथ जाएगी और वह भाग जावेगा।"

अब की हड्डो हुआ हाथ पकड़कर मैंने कम्पित-स्वर में कहा, "मोहन को अब हम इस जन्म में नहीं पायेंगे! मोहन मर गया है, विजया! तुम कैसी भूल कर रही हो? तुम्हारी यह अवस्था देख, मेरा

हृदय टूक-टूक हो रहा है। मेरे हृदय की अवस्था अब अत्यन्त दयनीय हो गई है। दया करो, विजया मुझ पर, यह सब अब मुझ से नहीं सहा जाता। मेरी विजया······।" अधिक बोल न सका, शब्द पानी बनकर आँखों की राह निकलने लगे।

उसने पालने की डोरी छोड़ दी। आवेग-भरी-सी वह मेरे पास दौड़ी हुई आई। अपनी दोनों बाहें मेरे गले में डालकर उसने क्षमा-सांत्वना के शब्दों से करुण स्वर में कहा, "सचमुच, मोहन के लालन-पालन में, प्रेम में, मैं तुम्हें भूल ही गई थी। मैं अपराधी हूँ, क्षमा करना, नाथ! मोहन के प्रेम के कारण ही आप को भूल चली थी। मेरा लाल अब सोया ही जाता है। उसकी आँखें लगने पर आप की सेवा में उपस्थित होऊंगी स्वामी!" फिर अपनी बाहें मेरे गले से निकाल कर उसने कहा, "जाओ, सोओ; किन्तु देखो तुम्हें मेरी शपथ है। फिर कभी वह अमङ्गल शब्द मुख से न निकालना। मोहन तो अमर हो गया है। उसकी अमङ्गल-कामना करना क्या उचित है, स्वामी? वह तो मुझ से रोज़ मीठी-मीठी बातें करता है। मेरे साथ भोजन करता है। मेरे पास सोता है, मैं उसे कहानियाँ सुनाया करती हूँ। और देखो, उसकी बुद्धि बड़ी तेज है। जितना खिलाड़ी है, उतना ही बुद्धिमान·········।"

मेरे लिए वहाँ रुकना मुश्किल होगया, तेजी से अपने कमरे में चला आया।

(४)

छः मास के अनन्तर विजया अपने को बिलकुल भूल गई। वह अब एक-एक दो-दो दिन तक घर नहीं आती—रात दिन गलियों में 'मोहन-मोहन की रट लगाए घूमा करती है। जहाँ कहीं कोई बच्चा देखती, उसे उठा लेती, चूमती, मिठाई देती। शहर के सारे बच्चों को वह मोहन के नाम से पुकारती। कोई उसे रोकता न था। लोगों में

भ्रम फैल गया था कि रोगी बच्चा अगर पगली विजया की गोद में दे दिया जाता है, तो स्वस्थ हो जाता है। मेरे दुःख का वारापार नहीं था। मेरा तो सारा खेल ही समाप्त हो रहा था। मोहन को खो बैठा था, और अब विजया भी हाथ से जा रही थी।

एक दिन रात के दस बजे विजया घर आई। मैंने कहा, "विजया" !

'कौन विजया ? क्या मैं विजया हूँ ?'

'फिर तुम कौन हो ?'

"मैं ? मैं मोहन की माँ—माँ ।"

"तुम इतनी रात तक कहाँ घूम रहीं थीं ?"

"पहिले एक ही मोहन था। झटपट उसका काम कर लेती थी। अब इतने मोहन होगये हैं कि फ़ुरसत नहीं मिलती। मैं योंही चली आई थी। अभी तो कितने ही मोहन मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे मुझे पुकार रहे होंगे। सारी रात उन्हें समझाते समझाते बीत जायगी।"

मैंने कहा—"विजया, यह सारी बातें छोड़ दो। सुध में आओ। किधर जा रही हो।"

उसकी आँखों में बिजली दौड़ गई। मानो मैंने उसकी आत्मा को छू दिया हो। वह बोल उठी "उस पथ की ओर, जहाँ असंख्य अमर मोहन क्रीड़ा कर रहे हैं। मृत्यु की अस्पष्ट छाया भी जहाँ दृष्टि-गोचर नहीं होती।"

उसे सुध में लाने का प्रयत्न करते हुए मैंने फिर कहा—"तो क्या तुम्हारा पथ अभी सम्पूर्ण नहीं हुआ है ?"

उसके मुख पर करुणा छा गई। उसने कहा—"मेरा पथ। विश्व के कण-कण में मैं मोहन को देखती फिरती हूँ। जिसमें उसकी मोहनी मूरत देख लेती हूँ। हँस देती हूँ। जिसमें उसे नहीं पाती रो देती हूँ।"

उसके नेत्र सजल हो गए। फिर वह कहने लगी—"मेरे पथ की पूर्णता! विश्व के कण-कण में मोहन क्रीड़ा करेगा, उस समय······।"

मैं गद्गद् हो गया। मैं देख रहा था उसके मुख पर स्वर्गीय आलोक उदित हो उठा है; आँखों में एक पुण्यमयी आभा प्रज्वलित हो गई है।

उसे सुध में लाने का एक बार और प्रयत्न करते हुए मैंने फिर कहा—'विजया क्या तुम मुझे एक दम भूल गई? जरा मेरी दशा तो निहारो······विजया······।"

बिजली के जगमग प्रकाश में मैंने देखा विजया के मुख की करुणा लुप्त हो रही है और उसकी जगह हँसी की रेखाओं का उदय हो रहा है। वह मेरी ओर देखकर जोर से हँस पड़ी तथा विद्युत्वेग से कमरे के बाहर चली गई। मैं चिल्ला पड़ा "विजया—विजया!" किन्तु वह तो गली के गहन अन्धकार में विलीन हो गई थी।

(५)

आज मैंने उसके पागलपन के रहस्य को समझा जिसे जनता पागल तथा पगली कहकर पुकारती है। वास्तव में वह अनन्त रहस्य की एक झलक-मात्र है।

निहाल

बगदाद के एक सनौबर के बाग में।

"एक भारतीय हिन्दू आप से मिलना चाहता है"।

दासी ने राजकुमारी निहाल से प्रार्थना की।

"कौन हिन्दू ? भारतवासी हिन्दू क्या अभी तक जीवित है ? जाओ, उसे भीतर भेज दो"। राजकुमारी ने क्रोध-मिश्रित स्वर में आज्ञा दी।

"कौन ? जिया पंडित !" राजकुमारी ने आश्चर्य से प्रश्न किया। "हाँ राजकुमारी जी, मैं वही दास जिया"। आगंतुक ने नम्र होकर उत्तर दिया।

"आगमन का कारण ?"

"खलीफ़ा के सेनापति मुहम्मद कासिम ने आप को इधर भेजने के पश्चात् आप के पूज्य पिता, हमारे महाराज, दाहर का निष्ठुरता-पूर्वक वध कर दिया और सिंध देश पर बगदाद का झंडा फहरा दिया। हमारा—हमारे सिंध देश का बच्चा-बच्चा काटा गया"।

"ऐं रोते हो ? जब बच्चा-बच्चा काटा गया तो तुम जीवित कैसे ? क्या रोने के लिये ?"

"मैं ब्राह्मण हूँ राजकुमारी जी ! संन्यास हमारा धर्म है। शस्त्र-धारण करने का हम को अधिकार ही कहाँ है ?"

"क्या कहा ? तुम पंडित हो और तुम्हारा संन्यास धर्म है ! हाय हाय। तुम्हारा देवता स्वरूप राजा तुम्हारी आँखों के सामने निर्दयता पूर्वक काट डाला जाये,, तुम्हारे देश की पवित्र राज-कन्यायें शत्रुओं के विलास-भवन में उनकी भोग-लिप्सा तृप्त करने के लिये भेज दी जायें, कैद करली जायें, किन्तु तुम्हारा धर्म—तुम्हारा संन्यास धर्म, तुम्हारी

पंडिताई न जाये ! नमकहराम पंडित, क्या राजकुमार तौफी भी तुम्हारी तरह......"

"शान्त राजकुमारी जी, शान्त !" जिया पंडित ने बीच ही में बात काट कर कहा, "आप शान्ति धारण करें राजकुमारी जी ! कुमार तौफी ने बुद्धिमत्ता-पूर्वक खलीफा की दासता स्वीकार करली है। और उचित तो यह है कि आप भी......"

"मुँह बन्द कर नमकहराम राक्षस" राजकुमारी ने क्रोध से फुफ-कारते हुए कहा, "क्या तू नहीं जानता कि आर्य-कन्यायें अपने सतीत्व-रक्षा के लिए अपने प्राण तक होम कर सकती हैं। महाराजा दाहर का नमक खाकर नमकहराम होने वाले शैतान, अपना मुँह यहाँ से काला कर और उस नामर्द तौफी से कह दे कि यदि उसकी नसों में भारत का खून है तो अपने बाप के खून का बदला ले। अन्यथा मैं उसके भी खून की प्यासी हो जाऊँगी। समझा, मैं क्या कह रही हूँ ?"

राजकुमारी निहाल ने महिला-मन्दिर की खिड़की से देखा—बादशाह और तौफी उसी ओर आ रहे हैं। निहाल ने कटार वस्त्रों में छिपाते हुए, मुस्करा कर बादशाह खलीफा का स्वागत किया। दोनों की चार आँखें हुईं। राजकुमारी की एक ही मुस्कान ने खलीफा को गुलाम बना लिया।

खलीफा ने सिंहासन पर बैठते हुए तौफी से पूछा—"राजकुमार ! आप का यह कहना कि कासिम नमकहराम हो गया है और मुझ को धोखा दे रहा है, कहाँ तक सत्य है ? निहाल ! तुम कासिम को कैसा समझती हो ?"

"कासिम को ? कासिम को मैं एक कुत्ते से भी बदतर समझती हूँ, बादशाह ! राजकुमार का कहना अक्षरशः सत्य है।" राजकुमारी ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

'सुबूत ?'

'सुबूत में मैं स्वयं उपस्थित हूँ।'

'यह कैसे?'

"मुझ नाचीज़ को नमकहराम कासिम ने भ्रष्ट कर दिया है और बाद में आप को धोखा देने के लिए, अछूत रत्न कह कर आपकी भेंट की गई हूँ। क्या इस से भी बढ़ कर सुबूत हो सकता है?"

तौफी के आश्चर्य की सीमा न रही। वह विस्मय से निहाल की ओर देखने लगा। किन्तु निहाल के एक ही संकेत से तौफी का सारा आश्चर्य जाता रहा। उसने भी खलीफा को लक्ष्य कर कहा—'देखी न आपने कासिम की काली करतूत।'

अब खलीफा क्या उत्तर देता। पागलों की नाईं बड़बड़ाने लगा। "कासिम—नमकहराम कासिम! आज तू बगदाद में होता तो······"

ठीक इसी समय एक सैनिक ने प्रवेश करते हुए सूचना दी—"जहाँपनाह! विश्वविजयी सेनापति मुहम्मद कासिम बगदाद में तशरीफ़ ले आये थे। उनका कैसा स्वागत किया जाये?"

"क्या कासिम आ गया?"

"जी, जहाँपनाह"

"जाओ उसे गधे पर चढ़ा कर अभी हाजिर करो। हुक्म मानो, हट जाओ।"

"गरीब परवर! सेवक को हिन्दू धर्मी नमाज पढ़ना है। क्या मैं जा सकता हूँ?" कुमार तौफी ने प्रस्थान किया।

सोने में सुगन्ध। तौफी इस समय खलीफा की आँखों में खटक ही रहा था। प्रसन्नता-पूर्वक बोला-"जरूर आप जा सकते हैं, राजकुमार।" तौफी ने आज्ञा पाकर महिला-मन्दिर के निकटवर्ती कमरे में प्रस्थान किया। निहाल चाहती थी कि तौफी से कुछ कह लूँ। उसके जाने के उपरान्त निहाल ने यह कह कर कि राजकुमार सूर्य देवता का चित्र भूल गये हैं, मैं उन्हें दे आती हूँ, कुछ चीज़ आँचल में छिपा ली

और बादशाह के उत्तर की प्रतीक्षा न करके उसे तौफी को दे आई। फिर एक कटाक्ष करके बादशाह के सामने एक सिंहासन पर जा बैठी। बादशाह पागलों की तरह बड़बड़ाने लगा।

"आँखों का था कसूर छुरी दिल पर चल गई।"

छुरी का नाम सुनते ही राजकुमारी के नेत्र एक अपूर्व आभा से चमक उठे। उसने लपक कर खलीफा की कमर से कटार खींच ली और मुसकरा कर कहने लगी—"अहो आप तो बहादुर हैं, ज़नानखाने में भी शस्त्र बाँधे फिरते हैं"। इसके उत्तर में बादशाह कुछ कहना ही चाहता था कि इसी समय सैनिकों द्वारा गधे पर से उतार कर कासिम हाजिर कर दिया गया। महिला-मन्दिर के तमाम द्वार बंद कर दिये गये। केवल एक द्वार जहाँ तौफी था खुला रहने दिया गया।

कासिम को सम्मुख पाकर खलीफा ने भूखे बाघ की भांति घूर कर कहा—"कासिम नमकहराम कासिम, तू ने हमारा गुनाह किया है।"

"नहीं परवरदिगार। कासिम इस्लाम का सच्चा सेवक है"

"होगा, लेकिन तू खलीफा का गुनहगार है।"

"यह भी नहीं नेकमन्द, कासिम खलीफा का नमकहलाल कुत्ता है।"

"देख इधर देख। यह कौन?" खलीफा ने निहाल की ओर उँगली उठाकर कासिम से पूछा।

"दुश्मन दाहिर की छोकरी, सिंध देश की लूट में प्राप्त अछूता रत्न, जिसे हजूर की खिदमत में रवाना करने में एक पल की भी देर नहीं की गई है।" कासिम ने विश्वास के स्वर में उत्तर दिया।

खलीफा निहाल की ओर देखने लगे कि उसके पास इसका क्या उत्तर है। निहाल इसी समय की बाट जोह रही थी। वह कासिम से गरज कर बोली—

"नीच कासिम! भारतीय स्वराज्य को क्या तूने कठपुतलियों का खेल समझा है? भारतीय अबलाएँ क्या तुम पापियों की काम-लिप्सा की

सामग्री है ? महाराजा बप्पा दाहर के खून से हाथ रँगते हुए क्या तुझे उनकी संतान का भय नहीं था ? देख इधर देख। राजकुमार तौफी तुझ से अपने बाप के खून का बदला ले रहा है। भगवान् सूर्य देव की जय !"

वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि तौफी की तीक्ष्ण कटार ने कासिम का सिर धड़ से अलग कर दिया और इधर राजकुमारी निहाल ने खलीफा की कटार खलीफा के हृदय में घुसा कर एक ठोकर और मारी। खलीफा और कासिम के प्राण-पखेरू उड़ गये। कुमार तौफी घबड़ाकर बोला—"बहन भविष्य ?"

निहाल ने विश्वास के साथ कहा "भगवान अंशुमाली के हाथ में"

"तो क्या अब हमको मर जाना चाहिये ?" राजकुमार ने घबरा कर प्रश्न किया।

"नामर्द ! बेहिम्मत ! मृत्यु अब नाम-शेष हो गई है। तौफी और निहाल दोनों अब अमर हो गये। उनका वंश भी अमर हो गया। सारे सिंध देश को जो असाध्य था वह हम दोनों भाई-बहन ने साध्य कर दिखाया।" सूर्य देव की जय ! कहकर उसने खलीफा का सिर काटकर खिड़की के बाहर फेंक दिया। वहाँ जिया पंडित खड़ा था। उसने उससे थाम लिया और विद्युत् वेग से सिंध की ओर भागा।

"महिला-मंदिर का द्वार क्यों नहीं खुला ? धुआं क्यों उठ रहा है। इस प्रश्न ने सारे सैनिकों को घबड़ा दिया। दरवाजा तोड़ डाला गया। एक ही चिता पर भाई और बहन अनंत विश्राम पा रहे थे—स्वदेश प्रेमियों के शरीर पावन हो रहे थे। और ? और खून से लथपथ दो शरीर पृथ्वी की धूल चाट रहे थे।

जिया पंडित खलीफा का सिर लेकर सिंध में आया। प्रत्येक हिन्दू ने उसे पहिचाना। भारतीय हिंदू 'निहाल' हो गये। निहाल की प्रतिमाएँ पूजी जाने लगीं। भारत की देवियों में एक देवी और बढ़ गई।

सोमरस

वह अपने को कैसे भुलावे में रख सकेगा ? यह जो स्मृतियों का सागर उसके हृदय में उमड़ पड़ा है, उसे वह न रोक सकेगा। विस्मृति के भयानक अंधकार में वह अतीत की सारी स्मृतियाँ खो देना चाहता है पर वह असमर्थ हो गया है। व्यथा से भर गया है। पीड़ा से उद्वेलित हो उठा है। हृदय के प्रत्येक स्तर में वह अजीब कँपकँपी का अनुभव कर रहा है। वह अब घर में नहीं बैठ सकेगा। घर की सारी वस्तुएँ जैसे उसे निगल जायेंगी। यह भी तो उसी स्मृति की जीवित सामग्री है। उन्हें देखते ही उसके हृदय में स्मृतियों के बादल उमड़-घुमड़ कर आँखों की राह बरस पड़ते हैं।

वह उठा। सोचा उसने, जगत् के मोहक सौन्दर्य के आकर्षण में ये अतीत की व्यथामयी स्मृतियाँ भुलायी जा सकती हैं। बाहरी प्राकृतिक सौन्दर्य में ये आन्तरिक स्मृतियाँ न जाने कहाँ विलीन हो जायँगी और वह कुछ शान्ति पा सकेगा।

उसे विश्वास हो गया कि अब वह सब कुछ अवश्य भूल जायगा। संतोष की रेखाएँ उसके मुख पर उदित हो उठीं। स्मित हास्य से उसका मुख आलोकित हो उठा। आँखों में प्रसन्नता की बाढ़-सी आ गयी।

'अनन्त वेदनाओं से प्रपीड़ित मानव के हृदय को प्रसन्न रखकर शान्ति देने के लिए ही तो यह बाहरी सौन्दर्य निर्माण किया गया है।' वह मन ही मन बोल उठा, फिर घूमने निकल पड़ा।

सोचना और क्रिया की संपन्नता, दोनों में बहुत अन्तर है। सोच हम सकते हैं, क्रिया भी कर सकते हैं, पर उसकी संपन्नता हमारी शक्ति से परे है। क्रिया की असंपन्नता को पा मानव उसे संपन्न बनाने का

भार किसी अज्ञेय की कल्पना कर उस पर छोड़ देता है और स्वयम् निश्चिन्त होकर संतोष का अनुभव करता है। उस अज्ञेय में ज्ञेय की असंपन्न असमर्थ शक्तियों को संपन्न और समर्थ करने की असीम शक्ति है, यह विश्वास ही मानव को जीवित रखने में समर्थ हो सका है। मानव की इस बेबसी पर वह हँसा और समस्त मानव जाति के प्रति एक असीम दया का स्रोत उसके हृदय में बह उठा।

उसे याद हो आया कि वह भी हमेशा यही कहा करती थी कि जब जब उस पर संकट आये हैं, उनसे बचने के लिए इसी अज्ञेय की असीम शक्ति के बल पर उन संकटों को उसने परास्त कर दिया है। उसे यह भी स्मरण हो आया कि अज्ञेय की इस शक्ति-संपन्नता की अनेक बातें कहते समय उसके मुख पर एक उज्ज्वल प्रभा उदित हो उठती थी। आँखें प्रदीप्त हो उठतीं और कंठ भर आता था। वह बोलते बोलते अचानक ही रुक जाती और तन्मय हो आकाश की ओर देखने लगती और हाथ जोड़ देती। वह कितनी ही बार उसकी इस तन्मयता को देख मुग्ध हो उसकी ओर भक्तिभाव से देखता रहा है।

इतने में किसी ने उसकी बाँह पकड़ सड़क के एक किनारे लाकर खड़ा कर दिया और कहा 'सड़क पर इस तरह बेहोशी से चलना ठीक नहीं, पीछे मोटर आ रही है।'

उसने उसकी ओर देखा और कहा 'धन्यवाद।'

अपनी राह वह चला गया।

उसने ऊपर आकाश की ओर देखा सूर्य अस्त हो गया है। अन्धकार फैलता ही जा रहा है। आकाश की लाली मिटती जा रही है। भूले-भटके चार पाँच पक्षी विश्राम की खोज में उड़े जा रहे हैं। आकर्षण का मोह इन्हें खींचे लिये जा रहा है। इसलिए सम्पूर्ण संलग्नता के साथ वे द्रुतवेग से पंख पसार कर उड़े जा रहे हैं।

घर में उसे अब कोई आकर्षण नहीं रहा। वह घर जाकर करेगा

ही क्या ? सामने देखा एक पार्क है। घर जाने की अपेक्षा वहीं बैठना अधिक श्रेयस्कर है। उसने सोचा—वह थी तब उस कमरे में श्री विराजती थी। उसके पुण्य-प्रदीप के प्रकाश से कमरा जगमगाता रहता था। अब वह कमरा कितना सौंदर्यहीन हो गया है जैसे प्राण निकल गये हों और स्थूल शरीर अस्तव्यस्त पड़ा हो। वह अब उस कमरे में न जायेगा। पार्क में रखी एक बेंचपर वह बैठ गया।

कितनी ही देर तक वह बैठा रहा। अपने में सोचता रहा। बड़ी देर हो गयी। पुलिस के सिपाही ने चिल्ला कर कहा 'बाबू, घर जाइये, दस बज रहा है।'

दस बज जाने पर घर जाना आवश्यक क्यों है, उसकी समझ में नहीं आया। जब दस बज गया है, दस बजे घर जाना आवश्यक ही है, तो घर जाना ही होगा। अब वहाँ बैठने का उसे अधिकार नहीं है। वह उठा, चल पड़ा। ऊपर आकाश की ओर देखा। आकाश की विशाल गोद में असंख्य तारिकाएँ बैठी हँस रही थीं। वह भी तो उसकी प्रेम भरी गोद में अपनापन भूलकर निश्चिंत हो सो जाता था। उसकी आँखें भर आयीं। वह घर नहीं जायेगा, नहीं जा सकेगा।

वह चल पड़ा उधर जिधर पैर ले जायें। अस्तव्यस्त-सा, वह चलता ही रहेगा। जब चलना ही है, रुकना नहीं है तो उसे चलना ही होगा। गति में मिल जाना होगा। पर जब तक होश है उसे भूल जाना एकदम असम्भव है।

उसने दाहिनी ओर आँख उठाकर देखा शराब की दूकान है। उसे याद हो आया, किसी ने कहा था 'शराब पीने से मनुष्य अपने दुःखों को भूल जाता है। शराब पीकर मनुष्य अपनापन खोकर एक निश्चिंत बेहोशी में घुल-मिल जाता है।' वह भी आज शराब पीकर अपने को भूल जायेगा, दीन-दुनिया भूल जायेगा। खूब पीयेगा वह। और कहीं भी सड़क के किनारे बेहोश होकर गिर पड़ेगा। रात बीत

जायेगी। घर नहीं जाना होगा। उसे घर नहीं जाना है।

वह दूकान में गया और एक टूटी बेंच पर जा बैठा। बेंच ने चूँ चूँ आवाज़ कर उसका स्वागत किया। नवागत मनुष्य की ओर सभी का ध्यान गया। सामने लाल, पीले, सफेद लेबिल लगी काली बोतलों के बीच एक मोटा आदमी बैठा था। उसकी वे लाल लाल आखें बड़ी डरावनी थीं। काला शरीर उसकी भयानकता में सहायक था। कन्धे तक लटके बालों ने उसे और भी उग्र बना दिया था। नये ग्राहक को देख उसकी वे लाल आँखें प्रसन्नता से हँस पड़ीं, जैसे धधकने वाले अंगारों में कैरोसीन डाल दिया हो।

इधर उधर चारो ओर देख कर उसने कहा 'मैं यहाँ आज पहिली बार आया हूँ, जब मैं घर में उसे नहीं भूल सका। बाहर घूमते समय भी उसे नहीं भूल सक रहा हूँ तो बताइये मैं आये बिना कैसे रह सकता था। जब वह मर गयी है···'

दूकान के सारे मनुष्य उसकी ओर देखने लगे प्रश्नार्थक मुद्रा बनाये, मानों एक साथ ही उन्होंने कहा हो 'कौन ?'

इसने फिर कहना आरम्भ किया 'हाँ' वह मर गयी है, पर उस दिन कौन कह सकता था कि वह मर गयी है। आँखें खुली थीं। चेहरा शांत था। हाथ-पैर, सारा शरीर रोज की तरह। फिर वह मर कैसे गयी! मैंने उसे खूब पुकारा, वह नहीं बोली। मैंने उसके शरीर को हाथ लगाकर देखा तो वह बिलकुल ठंढा पड़ गया था, जैसे बर्फ। मैंने ज्योंही नजर उठायी तो देखा पड़ोस के राघव दादा आ गये हैं। वे जैसे सब जानते थे। वे सब समझ गये। मैंने तो कभी मरना नहीं जाना। आप विश्वास कीजिये जब वह थी, कभी उसने किसी का मरना मुझे न देखने दिया। पड़ोस में कहीं मौत हो जाती तो वह मुझे बाहर नहीं निकलने देती थी। तब आप ही बताइये मैं मरना कैसे जान सकता था।'

दूकान में अजीब सन्नाटा छा गया था। शराब पीना और पिलाना दोनों बातें बन्द हो गयी थीं। दूकानदार अपनी डरावनी आँखों से उसकी ओर देख रहा था।

वह फिर बोल उठा 'अपने जीवन में उसने मुझे जरा भी तकलीफ नहीं होने दी। बाजार-हाट, सारा काम वही करती थी। चौदह वर्ष की उम्र तक तो मुझे उसने स्कूल नहीं जाने दिया था। मैं स्कूल जाता तो मुझे रोज पहुँचाने जाती और स्कूल की छुट्टी के समय लेने आ जाती। अकेला तो उसने कभी मुझे जाने ही नहीं दिया, मानों उसे भय हो कि मुझ पर अनेक संकट मँडरा रहे हों और उसकी जरा-सी असावधानी से ही वे मुझ पर बरस पड़ेंगे इसीलिए वह मुझे प्रत्येक क्षण जैसे आँचल के नीचे छिपाये रहती, उस दीपक की तरह जो आँधी में बुझ जाने के भय से अंचल के नीचे छिपाकर ले जाया जा रहा हो। वह शायद खूब समझती थी कि हवा का एक हलका झोंका ही उसके अंचल के नीचे छिपे दीपक को बुझाने में समर्थ हो सकता है।'

और इसी समय दूकान में जलने वाले कड़वे तेल के दीपक की मन्द लौ हवा के झोंके से हिल कर बुझ गयी।

वह बोला 'देखा! इस दीये पर किसी की छाया नहीं थी। हवा के एक हलके से झोंके से ही बुझ गया, इसीलिये तो वह अपनी ममता की छाया मुझ पर करती रहती थी। हवा का हलका झोंका भी कभी मुझे न लगने पाया किन्तु खुद उस पर किसी का आवरण न था। उसे कौन सँभालता, कौन उसकी फिक्र करता। मुझे सँभालने में लगी रहती, अपने को भूल जाती और एक दिवस एक छोटे से हवा के झोंके से ठीक इस दीये की तरह बुझ गयी। मेरा जीवन अन्धकार से भर गया, जैसे अब इस दूकान में अंधेरा हो गया है।'

दूकान के एक बूढ़े नौकर ने दीपक जला दिया। उस मन्द

आलोक में सभी ने देखा कि वह रो रहा है।

वह गद्‌गद कंठ से बोला 'मुझे हमेशा यह पहेली ही बनी रही कि उसमें यह ममता का सागर कैसे उमड़ पड़ा था। कहाँ छिपा था उसके उस जर्जर शरीर में ममता का ऐसा विशाल सुखी जगत जिसमें मैं कभी दुःख का अनुभव न कर सका। उसने एक बार अपनी कहानी सुनायी थी। जीवन मे उसने किसी का स्नेह नहीं पाया था। मातापिता शैशव में ही चल बसे थे। उसके पालन-कर्त्ता ने जब वह सोलह वर्ष की थी तभी एक बूढ़े से उसकी शादी कर दी। उसने कहा था पालन-कर्ता को खासी रकम मिल गयी थी।

विवाह के पाँच वर्ष बाद ही पति मर गया। दुर्भाग्य वश वह मेरा पिता था। आज भी उसे पिता कहने में मुझे लज्जा आती है। आप ही बताइये उसने कितना बड़ा पाप किया था। चालीस वर्ष की आयु में एक सोलह साल की युवती से विवाह करना क्या पाप नहीं है? आप उसे पाप न मानें पर मैं तो उसे भीषण पाप समझता हूँ।

वह जीवन में कभी अपने पति को भूल न सकी। वह कहा करती थी कि वे उसे खूब प्यार करते थे। मुझे पाकर तो वह आनन्द में सराबोर हो गयी थी। मुझे तो आज भी आश्चर्य हो रहा है कि उस युवती नारी के हृदय के किस कोने से मातृत्व फूट निकला। कैसे माँ की सुखद पुण्यमयी गोद मेरे लिए अनायास मिल गयी। कैसे उसने अपने अंचल के नीचे मुझे छिपा लिया। मैं जान न सका, मैं उस समय सिर्फ चार वर्ष का था।

वह कहा करती थी कि उसके जीवन में भी आँधी आयी थी। उसकी जीवन नौका डगमगा उठी थी। उसके जीवन में उथल-पुथल मच गयी थी। पिता जी के मरने पर उसने बहुत कष्ट उठाये। किसी ने उसे सहारा नहीं दिया। एक नवयुवक ने उसे सँभाला। समाज ने उसे कुलटा कहा। एक दिवस अचानक उसने उस नवयुवक से सहा-

यता लेना बन्द कर दिया। उसे अपने घर आने से भी रोक दिया। माँ ने कहा था कि अतर का आदेश पाकर ही उसने वैसा किया था। उसी रात को—उस अमावस की काली रात को—वह माँ से बिदा लेने आया था। बोला कुछ नहीं, पैर छूकर चला गया था। माँ ने यह भी कहा था कि उसकी आँखें गीली थीं। कहते कहते माँ का कंठ भर आया था।

माँ कहती थी, इसके अनन्तर एक प्रशान्त गंभीरता से उसका जीवन स्थिर हो गया था। फिर कभी ज्वार आया ही नहीं, मानो जीवन की दिशा निर्धारित हो गयी हो। मैं और पिता जी का चित्र दोनों उसके जीवन थे। उसके सामने मनुष्य अपने को छिपा नहीं सकता था।

बोलते बोलते उसका स्वर चढ़ता गया। सारी दूकान में एक विचित्र शांति छा गयी थी। सब की आँखे उसकी ओर लगी थीं। मानों उसके स्वर में एक जादू है और सब उस जादू से मोहित हो गये हैं। सब की आँखों में उसकी आँखों का प्रतिबिम्ब पड़कर एक विचित्र चमक आ गयी थी। सभी स्थिर-अवाक्-चित्रलिखित से बैठे रहे और उत्सुकता-भरी पलकों से उसकी ओर देखते रहे।

उसने ऊँचे स्वर में कहा 'वह कहा करती थी कि शराब पीना बहुत बुरा है। आप यहाँ शराब पीने के लिए आये हैं। उसके सामने आपकी हिम्मत ही न होती शराब पीने की, समझे। उसकी आँखों की ओर क्या आप देख सकते थे? वह आकाश में चमकनेवाला शुक्र तारा उसकी आँखों के सम्मुख फीका पड़ जाता था। उसकी आँखों में सूर्य की-सी प्रखर तेजस्विता थी।'

लोग अधिक उत्सुक हो उसकी ओर देखने लगे। वह आपे में न था। बोला 'वह आज नहीं है। और मैं शराब पीने के लिए आया हूँ। यकीन कीजिये मैं शराबी नहीं हूँ। मैं अपनी व्यथा को भूलना चाहता

हूँ। बताओ! मैं अब उसके बिना कैसे रह सकूंगा। मैं मरना जानता नहीं। कहते हैं शराब पीकर मनुष्य जीवित होकर भी मरा-सा हो जाता है। उसके हाथ के बनाये भोजन में अमृत का-सा स्वाद अनुभव करता था, और जब वह अपनी पवित्र आँखों से मुझपर ममता बरसा देती तो लगता कि स्वर्ग के देवताओं ने मेरे मस्तक पर फूल बरसा दिये हैं। रात में अपने स्नेह-सने हाथों से मेरे शरीर को अलवान से ढँक देती और मेरे मस्तक को थपथपाने लगती तो मैं निद्रा की गोद में कब चला जाता मालूम ही न होता था। बताओ, क्या यह भूल जाने की बातें हैं? इसीलिए अपने को भूल कर उसे भूल जाना चाहता हूँ।'

उसका गला भर आया। सबकी आँखें गीली हो गयीं। महाजन की लाल आँखें भी तरल हो गयीं।

उसने गद्‌गद कंठ से कहा 'मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है कि वह कैसे चली गयी। पिताजी का फोटो अपनी छाती पर रख उसे दाहिने हाथ से चिपकाकर वह सोती थी। बायाँ हाथ मेरी पीठ पर रहता था। नींद में कभी उसका यह नियम भंग नहीं हुआ, पर जाते समय उसका यह नियम, यह प्यार, यह स्नेह, यह ममता कहाँ चली गयी। मुझे छोड़ ही गयी पर मेरे पिताजी के चित्र को कैसे छोड़ सकी यही आश्चर्य है, वह तो उसका प्राण था। हाँ, सच जानिये उसका प्राण ही था। रात दिन उसे देखा करती और आँसू बहाया करती।'

उसने कोट की जेब से एक फोटो निकाल कर कहा 'देखो वह है यह चित्र। कैसे छोड़ गयी वह इसे, और यह भी कैसा निष्ठुर है। उसकी आँखों के पानी में यह भी पानी बनकर क्यों न बह गया—यह दुःख नहीं सहा जाता—'

उसने दूसरी जेब से रुपया निकाल कर दूकानदार के सामने फेंक दिया और कहा 'इन सब बातों को भूलना ही होगा और उसका एक-

मात्र उपाय शराब है। देखो महाजन, शराब अच्छी देना, बगैर पानी मिलाये देना। वैसे ही मुझ में पानी की कमी नहीं है। आँखों से बहते पानी में और हृदय के रक्त से बने पानी में बहकर मैं जर्जर हो चुका हूँ। शराब के बहाने पानी पीकर तो मैं और भी जर्जर हो जाऊँगा।'

दूकानदार ने जाम भर कर उसके सामने कर दिया। वह उस जाम की ओर देख कर हँसा, क्षण भर ही उधर देख सका। एकाएक उसकी आँखें छलछला आयीं। वह रुँधे हुए गले से बोला 'महाजन, मैं इसे न पी सकूँगा। माँ इससे नफरत करती थी। इसे पीने से तो वह स्वर्ग में भी रो देगी। मैं उसके प्राणों को न बचा सका। अब उसके आदेश की हत्या न कर सकूँगा। तुम जानते हो वह मुझे क्या पिला गयी है—'

दूकान में सन्नाटा।

तुम नहीं जानते! सुनो, वह मुझे सुरों का सोमरस पिला गयी है; अब यह असुरों की सुरा पीकर इस शरीर को, जिस पर वह अपना पवित्र हाथ फेरती रही, कलंकित न होने दूँगा। नहीं, नहीं, मैं न पीऊँगा। सोमरस में ही क्या कम मस्ती होती है? मैं जा रहा हूँ, अच्छा राम राम।'

वह आवेग से उठा और अंधकार में खो गया।

दूकान में बैठे लोगों ने देखा कि दूकानदार भी दस कदम दौड़कर चला गया है और कह रहा है 'अजी बाबू साहब, अपना रुपया तो लेते जाइये।'

शराब में पानी मिला कर पैसा लूटनेवाले इस पिशाच में यह मानवता कैसे जाग उठी? और आज तक वह कहाँ छिपी रही? सभी विस्फारित आँखों से उसकी ओर देखने लगे।

मैं लौट आया

मेरा निश्चय सुन सुमन आँखों में आँसू भर कर बोली 'कब लौटेंगे ?'

'अबकी लम्बा प्रोग्राम है, कम से कम तीन महीने, मैंने हँसते हुए निश्चय के स्वर में कहा।

'सच ?'

'हाँ, इस बार पूर्ण निश्चय है; घर बैठे बैठे तो कुछ मिलने वाला नहीं, घूम फिर कर पैसा लाना ही होगा।'

'पर मैं कैसे रह सकूँगी ?' आँसू आँखों की मर्यादा का अतिक्रमण कर गालों की आरक्तता धोने निकल पड़े।

मैंने शरारत से कहा 'वियोगिनी बन कर।'

'मैं न रह सकूँगी, सच कहती हूँ मुझसे यह न होगा !'

'तुम मुझ से प्रेम करती हो ?'

वह विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखती रही, देखती ही रही। उसकी आँखें तथा मुखाकृति मानों कह रही थी 'तुमसे इस प्रश्न की आशा नहीं थी।'

मैं मन ही मन लजा गया। बात तो कही थी मजाक की गरज से पर वह गम्भीर हो गयी। हृदय के किसी कोने में क्या कुछ ऐसा भी है जिससे शंका की उत्पत्ति हो सके। मैं भी क्या कम दुखी था उसे छोड़ते समय। कभी इतने दिन उसे छोड़ कर रहा नहीं था। हृदय में एक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी।

पर मैं सँभल गया। स्थिति की गंभीरता कुछ अनर्थ उत्पन्न कर देती। मैंने हँस कर कहा—'विरह की अग्नि में प्रेम तप कर उज्ज्वल से उज्ज्वल तर हो जाता है सुमन। पति-पत्नी को भी वर्ष में कम से कम

दो महीने-तीन महीने……।'

'बारह महीने—'मेरे स्वर में स्वर मिलाकर एक अजीब ढंग से उसने मुँह फुला कर कहा। दोनों काली घनी भृकुटियाँ एक साथ ही वक्र हो गयीं मानों भ्रमर ने अपने काले काले पंखों को फैला कर उड़ने की तैयारी की हो।

मैं चुप रह गया। वह मेरी ओर देखती—मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोली 'यह कहाँ का सिद्धांत है ?'

'प्रेम-शास्त्र का, बड़े बड़े प्रेम-योगी, प्रेम-विशारद, प्रेमोपासक यही कहते आये हैं' प्रेम से देखते हुए मैंने कहा।

उसके गालों की गुलाबी लालिमा में परिणत हो रही थी। ओठ कमल की पंखुड़ियों की तरह खुल गये और मोती के से दांतों की प्रभा बिखर पड़ी है। आँखों में एक अपूर्व दीप्ति आ गयी।

× × ×

ट्रेन चली जा रही है। मैं सोच रहा था—'प्रेम-प्रेम—सारा जगत् प्रेम के पीछे पागल। कहते हैं प्रेम अगोचर है। प्रेम ही परमात्मा है। सुमन के प्रेम में क्या अभाव है। विवाह के प्रथम क्या मैं उसे जानता था ? कभी देखा भी तो नहीं था। कहते हैं 'प्रेम-विवाह' में प्रेम की स्थिरता होती है, पर इन दो वर्षों में सुमन ने कभी भान न होने दिया कि उसका प्रेम सिर्फ कर्तव्य है। सहवास से भी तो हम एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं—इतना अधिक कि एक का वियोग दूसरे की मृत्यु का कारण बन जाता है। सुमन के प्रेम का जन्म भी कदाचित् इसी सहवास से हुआ है। हृदय के भीतरी स्तरों में क्या वास्तविक प्रेम के अंकुर—प्रेम की सारी निधि मेरे ही लिए। हृदय का प्रतिबिम्ब मुख है। सुमन वियोगिनी होती तो अवश्य उसके मुख पर पीड़ा की रेखाएँ, एक क्षण को ही क्यों न हों, अंकित हो जातीं। वह तो हँसती रहती है। ऐसी प्रसन्न कि जैसे मुझे पाकर—।' गाड़ी पूरे वेगसे दौड़ने

लगी,—और मन सँभाले न सँभलता था। एक धक्का-सा लगा और और मुझे अपने आप पर लज्जा हो आयी—छिः 'क्या ये सोचने की बातें हैं, सुमन के संबंध में अविश्वास की भावनाएँ—कैसा मन है यह, एकदम चंचल······'

शरीर को एक जोर का धक्का लगा। देखा गाड़ी रुक गयी है। शरीर भी स्थिर है। मन की गति भी रुक गयी है।

दरवाजा खुला और एक खद्दरधारी व्यक्ति ने प्रवेश किया। मुझे देखते ही जैसे उछल पड़े 'कौन, श्रीकान्त, कहाँ भाई, कहाँ जा रहे हो!'

सुमन के विचारों से मन प्रसन्न हो रहा था। उल्लास की लहरें दौड़ रही थीं। एकाएक मित्र के दोनों हाथ अपने हाथ में लेकर मैंने कहा 'ओह बहुत दिनों पर मिले भाई।' मैंने अनुभव किया हृदय का सारा प्रेम जैसे मित्र के निकट दौड़ा जा रहा है। कौमार एक साथ ही बिताया है। ओह, कैसे सुन्दर दिन थे वे। कैसा अनोखा निष्कपट प्रेम था, पर इधर पाँच वर्षों से नहीं मिल पाये थे, अब स्मृति पटलपर उस प्रेम की धुँधली रेखा भी नहीं है—और विस्मृति भी कैसी भयानक है। क्या सुमन······

इसी समय मित्र महोदय ने कहा 'तुम मुझे बिलकुल ही भूल गये भाई।' अपराध का सारा बोझ अपने सिर लेना मैं गवारा न कर सका; कहा 'और तुम···'

उन्होंने कुछ गंभीरता, कुछ खिन्नता से कहा 'हाँ, मैं और तुम दोनों ही—पर श्रीकान्त, कैसा है यह व्यवहार—वे दिन याद हैं जब हम एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते थे, कितनी कसमें खायी हैं हमने एक दूसरे को न छोड़ने की—पर वे कहाँ चली गयीं पता भी न चला—हम एक दूसरे को ऐसे भूले कि मिलना तो दूर पत्र भी न लिख सके—ओह! भयानक विस्मृति···'

मेरे सामने सुमन की हँसती मूर्त्ति उदित हो उठी। मित्र महोदय की ओर मैंने ऐसे देखा जैसे उन्होंने मेरे ही भाव व्यक्त किये हों। और उस कथन में जगत् का सारा सत्य—सारा तथ्य भरा हुआ है।

मालूम हुआ वह इलाहाबाद जा रहे हैं। साहित्यिक हैं इसलिए जा रहे हैं, साहित्य-प्रांगण में साहित्यिक मित्रों के साथ क्रीडा करने। मैं भी इलाहाबाद जा रहा हूँ यह सुन कर वह खिल पड़े। कहा 'तो चलो दोनों का साथ रहा।'

'कहाँ ठहरोगे ?' उन्होंने थोड़ी देर बाद पूछा।

'किसी मित्र के यहाँ या होटल में।'

'नहीं जी,……सम्पादक जी के यहाँ ठहरेंगे।'

'जैसी तुम्हारी मर्जी।' मैंने अधिक कुछ न कहा 'आखिर कहीं ठहरना तो होगा ही।'

फिर बातों का प्रवाह धंधे पर आ रुका। उन्होंने पूछा 'कैसे चल रहा है रोजगार।'

'ठीक चल रहा है। परन्तु अब बीमे की ओर लोग अधिक ध्यान नहीं देते। भाई, तुम बड़े आनन्द में हो, कहीं जाना न आना, घर बैठे ही बैठे चार अक्षर घसीट दिये—मनिआर्डर घर पहुँच गया। हम रात-दिन घूमते रहते हैं, घंटों मगजपच्ची करते हैं तब भी मुश्किल से कोई फँसता है…'

उन्होंने प्रतिवाद के शब्दों में कहा 'साहित्यिकों के सम्बन्ध में जो तुम्हारी सुंदर धारणा है, वास्तव में वह वैसी नहीं…।' फिर भी उन्होंने सम्पादकों, आदि के संबंध में बातें ऐसे ढंग से कहीं जैसे लेखक बनना सब से बड़ा अभिशाप है।

मुझे इन बातों में कोई रुचि नहीं थी, पर मित्र महोदय के हृदय में मानो ज्वालामुखी धधक रहा था—मेरे कहने भर से वह फूट पड़ा। मैं पड़ा पड़ा सुन रहा था। शनैः शनैः अपने में खो गया। इलाहाबाद

में सब से पहिला काम होगा—पोस्ट आफिस से सुमन का पत्र लाना। लिखा होगा—'तुम्हें एक क्षण भी नहीं भूल सकी हूँ। बेबी तुम्हारी याद करती है। एक बार आकर फिर चले जाना—'

गाड़ी रुकी और एक जोर का धक्का खाकर मैं जागा। मित्र महोदय अब तक साहित्यिक दुनिया की ही सैर कर रहे थे, पर वह किस स्थान पर हैं यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। गाड़ी को रुकते देख उन्होंने अपनी कथा का उपसंहार किया—'सो भाई, आज कल साहित्य की यह दुरवस्था है। कब वह सुदिन आयेगा और लेखकों के श्रम का उचित पारिश्रमिक—।'

'कुली चाहिये, कर्ण-कर्कश स्वर से लाल साफेवाला कुली चिल्लाया।

मैंने कहा 'हाँ, यह सामान उतारो'।

वाक्प्रवाह को समेट मित्र महोदय भी सामान सँभालने लगे।

× × ×

मित्र महोदय के सम्पादक मित्र बड़े ठाट के आदमी हैं। प्रेमी जीव हैं। उनके कार्यालय में बहुत से कर्मचारी हैं। सभी हमारा यथेष्ट सम्मान किया करते हैं। उन सब में एक मनुष्य की ओर सब से अधिक ध्यान गया। उसका नाम था महादेव। दुबला-पतला, मैले कपड़ों से ढँका गेहुँवा शरीर। संकटों के आघातों से जैसे उसकी आँखों में हमेशा के लिए एक वेदना की छाप-सी लग गयी है—जो देखने वालों को भी बरबस अपनी ओर आकर्षित करती है और अपनी मूक भाषा में अपना इतिहास कहती रहती है।

उस दिन मेरे मित्र तथा सम्पादक जी कहीं बाहर चले गये थे। सम्पादक जी की कुर्सी पर बैठा मैं आये हुए लेखों को उलट-पुलट कर देख रहा था। महादेव भी एक कहानी उठाकर पढ़ने लगा। पढ़ चुकने पर बोला 'देखिये बाबू जी यह कहानी हमारे पत्र में हरगिज न छपेगी।'

मैंने कहा 'तुमने कैसे जाना ?'

उसने हँसकर कहा 'मैंने उसे पढ़ा, बिलकुल रद्दी चीज है। जब मुझे ही पसन्द न आयी तब सम्पादक जी उसे कब पसन्द करने लगे ?'

मैंने सोचा, सम्पर्क में रहते रहते एक मामूली पढ़ा-लिखा मनुष्य भी साहित्य की परख कर लेता है। मुझे कुतूहल हुआ—मैंने कहा 'कहाँ तक पढ़े हो ?'

'यही कुछ कुछ हिन्दी समझ लेता हूं।'

'पर तुम तो कहानी का मर्म जान लेते हो—मानो सम्पादक ही हो।'

वह हँसकर रह गया।

मैंने कहा 'क्या तुम यहाँ नौकर हो ?'

'नहीं, प्रेस में काम करता हूँ—सात आठ रुपये माहवार पा जाता हूँ।'

'बीबी बच्चे हैं ?'

उसके मुख पर करुणा साकार हो उठी। आँखों से वेदना फूट पड़ी। कहा 'वह तो मर गयी। एक बचा है।'

'वह तुम्हारे पास ही रहता है।'

'नहीं, मेरी माँ के पास है।'

'घर में और कौन कौन हैं ?'

'मां हैं, बड़े भाई हैं, उनका सारा परिवार है।'

'क्या करते हैं वे ?'

'खेती—एक गांव है, वहीं रहते हैं।'

'तुम वहाँ क्यों नहीं रहते ?'

'मेरी भाई से बनती नहीं। रोज रोज की लड़ाई अच्छी नहीं। खाने भर को यहीं मिल जाता है।'

सम्पादक जी आ गये और बात वहीं रुक गयी। थोड़ी ही देर में

सम्पादक जी का कमरा लेखक मित्रों से भर गया। साहित्य चर्चा आरम्भ हुई, और फिर तो वादविवाद में परिणत हो गयी।

गोले बरसते रहे—तोपें गरजती रहीं और न जाने क्या क्या होता रहा।

महादेव बैठा देखता रहा, जैसे वह इन सब बातों से अभ्यस्त है। ये नित्य की बातें हैं, नवीनता उनमें नहीं। वह अपनी दुनिया के किसी कोने में बैठा कुछ सोच रहा था। उसकी दुनिया में न तो कविता है न कहानी है। उसकी निराली दुनिया है—जहां जीवन अपना वास्तविक भीषण रूप लेकर उपस्थित है, समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं।

उसी रात मैं अपने मित्र महोदय के साथ बैठा बातें कर रहा था। महादेव मेरी चारपाई पर आकर बैठ गया, जैसे उसने वह अधिकार पा लिया था।

मित्र महोदय ने कहा 'कल मैं यहाँ से जाऊँगा।'

मैंने कहा 'मुझे तो अभी यहीं ठहरना है। किन्तु एक अड़चन आ पड़ी है।'

'क्या?'

'घर से पाँच सूट लेकर चला था। चार खराब हो चुके हैं। उन्हें धुलवाना है।'

महादेव ने कहा 'यह कौन बड़ी बात है। मैं धुलवा लाऊँगा। आप मुझे दे दें।'

'तुम्हें बड़ी तकलीफ होगी महादेव।'

'नहीं, नहीं, इसमें तकलीफ की कोई बात नहीं है बाबू जी, आप परदेश में आये हैं। आपकी सहायता करना हमारा काम है।'

मैं कृतज्ञता से भर गया।

सुबह आठ बजे सम्पादक जी ने चाय और बिस्कुट भेज दिये। महादेव ही लेकर आया। रात को जाग कर सुमन को पत्र लिखा था।

रात के सन्नाटे में न जाने क्या क्या लिख गया था। प्रातःकाल पढ़ने की हिम्मत नहीं हुई। लिफाफा महादेव के हाथ में देकर कहा 'देखो, इसे अभी पोस्टआफिस छोड़ आओ। यह पैसे लो टिकट लगा देना।'

उसने निचला ओठ दाँतों तले दबा लिया। मैंने समझा उसकी आदत होगी, पर आँखों में वह लालसा का नर्तन, पैसों को देखते ही एक विकट भाव...।'

उसने लिफाफा और पैसे ले लिये।

उसने कहा 'कपड़े धोबी को देने हैं वह भी दे दीजिये।'

मैंने चारो सूट दे दिये।

मित्र महोदय चले गये थे। मैंने रहने के लिए एक कमरा ले लिया। महादेव ने ही तय करा दिया था। सामान भी वह ले आया। मैं जैसे उसके सम्मुख झुका जा रहा था।

दोपहर में महादेव आया कुछ उद्विग्न सा—उदास सा-सहमा सा—मैंने उसकी ओर देखकर कहा 'क्यों महादेव ?'

'कुछ नहीं बाबू जी।'

वह कुछ कहना चाहता है, यह जान कर मैंने कहा 'फिर भी'।

'आठ आने पैसे दे दीजिये बाबू जी, सख्त जरूरत है। दो-तीन दिन बाद लौटा दूँगा !'

'इसमें शरमाने की कौन-सी बात है !' पैसे मैंने दे दिये। वह लेकर जा रहा था। मैंने कहा 'और देखो इन्हें लौटाने की आवश्यकता नहीं है।'

जैसे इस दयाके बोझको संभालनेमें वह असमर्थ था। वह कुछ बोला नहीं, एक बार भर नजर देखा मेरी ओर, और चला गया। ओह, वह नजर कितनी मीठी थी।

चौथे दिन महादेवने आकर कहा 'बाबूजी कपड़े धुल गये हैं, धुलाई के पैसे दे दीजिये।'

मैंने पैसे दे दिये, वह चला गया।

फिर वह नहीं आया। जब शामको भी नहीं आया, तब मैं सम्पादक जी के यहाँ गया। वह घरपर नहीं थे। मैंने नौकर से पूछा 'महादेव कहाँ है?'

उसने कहा 'वह तो गाँव गया है।'

'कब?'

'आज ही शामको चार बजे।'

'कब आयेगा?'

कोई निश्चय नहीं, 'जब जाता है तब बहुत दिनों में आता है।'

मैं लौट आया। समझमें नहीं आ रहा था कि महादेवने आखिर कपड़ों का किया क्या! सम्पादकजी भी सुनकर आश्चर्य करने लगे।

फिर वह नहीं आया, नहीं आया। न सुमन का पत्र ही आया। सुमन को एक पत्र लिख दिया।

चार दिन और गुजर गये। सुमन का पत्र आया। मेरा वह पत्र उसे नहीं मिला था। महादेव की आँखों में प्रकट लालसा पैसे खा गयी। मैं क्रोधित हो गया।

रातको सम्पादकजी के कमरे में कई आदमी बैठे थे। मुझे देखते ही दया और सहानुभूतिका स्रोत उमड़ पड़ता। मैं दबा जा रहा था।

एक ने कहा 'बड़ा बदमाश है।'

दूसरे ने कहा 'बड़ा अन्याय उसने आपके साथ किया।'

तीसरे ने कहा 'परमेश्वर अवश्य उसे सजा देगा। पापियों को परमात्मा ही दंड देता है।

मैंने कहा 'जाने भी दीजिये। कपड़े गये—वह ले गया, कपड़ों की बात ठहरी, आज नहीं तो कल तो वे पुराने होकर फट ही जाते। जो बात कल होती वह आज ही हो गयी। अब वह चर्चा छोड़िये।'

एक मुरब्बी ने कहा 'अजी साहब यह आपकी उदारता है। वह

तो आखिर चोर ही ठहरा ।'

'हाँ, चोर नहीं तो और क्या ! पाजी, बदमाश' तीन चार श्रीमुखोंसे मुक्तावलियाँ बरस पड़ीं ।

शरीर को कम्बल से ढँके, कोने में बैठे हुए एक महाशय अबतक चुप थे—वे बोले 'आप सभी साहित्य का सृजन कर समाजमें जाग्रति लाते हैं पर यह साहित्य का सृजन कल्पनाके बलपर हो रहा है । हम वास्तविकतासे दूर, बहुत दूर रहते हैं । महादेव कई दिनो से भूखा था । ऐसी हालत में वह क्या करता—।'

एक ने बीच में ही कहा 'तो इसका मतलब यह कि चोरी करके पेट भरा जाय ।'

'हाँ, हाँ, चोरी करके, भूखा क्या नहीं करता । भूखसे मनुष्य मनुष्य को मार कर खा जाता है ।'

एक ने कहा 'सम्पादकजी तो उसकी कुछ फिक्र करते ही थे—।'

'मुझे यह मालूम है । परन्तु आपको यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य दया नहीं चाहता, सहानुभूति नहीं चाहता, प्रेम नहीं चाहता । दयासे मनुष्य हीन, सहानुभूति से दीन, और प्रेम से बन्दी हो जाता है । वह चाहता है मान, प्रतिष्ठा, समाज में एक सम्मानित स्थान ।'

मित्रमण्डली चली गयी थी । एक असह्य पीड़ासे मेरा हृदय कराह उठा । सीधे तार आफिस जाकर सुमनको तार दिया मैं आ रहा हूँ ।'

रास्ते में मेरी बेचैनी बढ़ गयी । उस कम्बलधारी व्यक्तिने जैसे मेरा सारा जीवन—सारी विचार धारा पलट दी । मालूम हुआ समाज, समाज नहीं रह गया है । कितना खोखलापन है उसमें । थोड़े से स्वार्थी व्यक्तियोने अपने व्यक्तित्वके बलपर मानवताकी बागडोर अपने हाथ में ले ली है, मानवता का दम्भ करते हैं—और मानवता उनके इस स्वार्थ के नीचे कुचली जा रही है ।

घर पहुँचा । मुझे देख सुमन खिल पड़ी । मेरी खिन्नता बनी ही रही ।

मेरी इस स्थिति पर सुमन के नेत्रोंमें कुछ आश्चर्य का भाव भी देख पड़ा।

सूटकेसका सामान सँभालते समय सुमन ने कहा 'अरे तुम्हारे कपड़े ?'

मैंने शान्ति तथा गम्भीरता से कहा 'जिसको उनकी वस्तुतः आवश्यकता थी उसने अपने समझ कर ले लिये ?'

'खो दिये ?'

मैं कुछ नहीं बोला।

किसी दिन तुम न खो जाओ ?'

'मैं खोया-सा ही हूँ।'

'कहाँ ?'

'तुममें—'

सुमनकी आँखों में प्रसन्नता बिखर पड़ी। मुख पर रक्तिम आभा खिल पड़ी।

पर मैं उसमें खोया न जा सका। सुमन को मैंने भुलावे में रखा। मैं आज सजग था। फिर भी खोया जा रहा था—कहाँ—?

त्याग

वह बी. ए., में पढ़ता था। स्वस्थ, सुन्दर, कान्तिमान् नवयुवक था वह। उसके गुलाबी तथा तेज-पुंज मुखमंडल पर शान्ति का साम्राज्य था। विशाल वक्षःस्थल उसकी शक्ति का परिचायक था, विशाल ललाट उसकी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शक। कितनी ही छात्राएँ उनसे बोलने के लिए-प्रेम-सम्पादन के लिए लालायित रहतीं। गंभीर-हृदय शरच्चंद्र स्त्रियों से अधिक बोलना पसंद न करता था। कालेज में वह अधिकतया किसी से बोलता था तो अरुणा से। अरुणा से बोलते समय उसका संयम सूम के धन की भाँति लुट जाता। अरुणा में सौन्दर्य विशेष था। उसकी बड़ी-बड़ी करुणामयी आँखें तथा काली, लम्बी, मृदु, नागिनसी पीठ पर लटकनेवाली केशराशि। और अरुणा जब अपनी इन्हीं जादूभरी आंखों से शरच्चंद्र की ओर देखकर मुस्किरा देती तब उसका हृत्कमल खिल उठता—वह अपनापन भूल जाता। दो हृदय एकाकार होना चाहते थे परन्तु मानव-जीवन के प्रवाह में एक गूढ़ रहस्य है वह रहस्य भविष्य के परदे में छिपा न होता तो जगत् सारहीन हो जाता। ईश्वरीय शक्ति पर मानवता विजय पा जाती।

गर्मी की छुट्टियों में शरच्चंद्र घर जाना चाहता है। उसके पिता का पत्र आया है कि उसकी मां उसे देखने के लिये अत्यंत व्याकुल हो रही है। इस समय शरच्चंद्र घर न गया तो वह अन्नपानी ग्रहण न करेगी। अतएव वह इस बार घर अवश्य जावेगा। पर अरुणा का वियोग! बस यही एक कांटा है जो उसके हृदय में चुभकर उसे बेचैन कर देता है। पर वह अपने निश्चय पर अटल है। चाहे पूरी छुट्टी वह वहाँ व्यतीत न करे, जल्दी ही लौट आये, पर जायगा ज़रूर!

सूर्य देवता की कोमल किरणों ने उसके सुन्दर मुख को चूमकर

उसे सचेत किया कि रात समाप्त हो गई है अब उसे उठना चाहिए। वह उठा और नित्यकर्म से निवृत्त होकर अरुणा के घर की ओर चल पड़ा। आज दोपहर बारह बजे की ट्रेन से वह घर चला जायगा।

अरुणा, अरुणोदय से ही उसकी बाट जोह रही है। शरच्चंद्र ने उसे वचन दिया था कि वह सूर्योदय से पूर्व उसके घर आ जायगा। किन्तु वह दूसरे दिन जा रहा है अतएव उसके मित्र उसे बरबस सिनेमा देखने ले गये। रात में देर से आने के कारण शरच्चंद्र को नींद जल्दी न खुली। अरुणा बार-बार द्वार पर आकर शरच्चंद्र को देख जाती है। स्वप्न में भी कल्पना न थी कि वह इतनी देर कर देगा। अब तो वह व्यग्र हो उठी है। उसे शरच्चंद्र पर क्रोध भी आ गया है, वह सोचने लगी 'उन्हें मेरी क्या परवा है। मुझे एक-एक क्षण भारी हो रहा है, वह किसी मित्र के साथ गप्पे लड़ा रहे होंगे। मैं भी शान्ता के घर जाती हूँ, किन्तु वह आज जा रहे हैं फिर नमालूम कब भेंट होगी?—जाने दो—मुझे क्या—जिसे मेरी परवाह नहीं—उसकी मैं क्यों परवाह करूँ?' एक साथ ही कितने विचार उसके हृदय में उत्पन्न हो गये। वह शान्ता के घर जाने को उठी। पर द्वार पर आकर रुक गई और दूर तक दृष्टिपात करके बोल उठी 'आखिर नहीं आये!' उसे आश्चर्य हुआ कि मैं शान्ता के घर जा रही थी पर यहां क्यों रुक गई? फिर एक बार उसने दूर तक दृष्टि दौड़ाई। अबकी बार उसे निराश नहीं होना पड़ा। उसने देखा शरच्चंद्र द्रुतगति से इधर ही आ रहे हैं। आनन्द की रेखाएँ उसके मुख पर नर्तन कर उठीं! एक अनुपम प्रभा उसके मुख पर उदित हो गई। उसने मन ही मन कहा 'आ रहे हैं—जल्दी-जल्दी चले आ रहे हैं। सोच रहे होंगे अरुणा नाराज़ हो गई होगी'।

फिर कुछ सोच कर-मुस्किराकर उसने चप्पलें पहनी और बाहर जाने को उद्यत हो गई। जिस समय शरच्चंद्र अन्दर आ रहे थे वह ज़मीन की ओर देखती हुई बाहर जा रही थी। शरच्चंद्र ने हँस कर

कहा 'कहां जा रही हो। तुमने मुझे निमंत्रित किया है क्या यह तुम भूल गईं। बड़ी भुलक्कड़ हो तुम अरुणा !

अरुणा ने मुंह फुला कर कहा 'एक जरूरी काम से शान्ता के घर जा रही हूँ।'

शरच्चंद्र ने कहा 'वाह, मैं तुम्हारे घर आया और तुम शान्ता के घर जा रही हो। इसमें अभ्यागत का अपमान है। आमंत्रित की अवहेलना करना किस सभ्यता का द्योतक है ?'

उसी तरह मुंह फुला कर अरुणा ने कहा 'जो अतिथि अव्यवस्थित हो, जो अभ्यागत समय का मूल्य न जानता हो, जिसे अपने वचन का पास नहीं हो, मैं उससे बोलना भी नहीं चाहती।' और तमक कर उसने दूसरी ओर मुंह फेर लिया।

शरच्चंद्र ने गंभीर होकर कहा 'तो मैं जाऊं ?'

'रोका किसने है ? अरुणा की आंखें उसकी खिल्ली उड़ा रही थीं।

'जाऊं ?'

.........? अरुणा हंस रही थी उपेक्षा से।

जाता हूं !

.........? अरुणा निर्मिषेष उसकी ओर देख रही थी।

द्वार तक पहुँच कर शरच्चंद्र ने मुड़कर कहा 'जाता हूँ अरुणा'।

हंसी की रेखाओं से अरुणा का चेहरा खिल पड़ा। अंचल से मुंह को ढंक कर उसने सिर हिला दिया 'जाइये'।

शरच्चंद्र ने हंस कर कहा कितनी निष्ठुर हो अरुणा !'

अरुणाने तपाक से कहा 'अरुणा निष्ठुर नहीं। तुम निष्ठुर हो। कब से बाट जोह रही हूँ। जलपान का सामान व चाय ठंडी हो गई। तुम्हारे निकट समय का ज़रा भी मूल्य नहीं शरच्चंद्र, बड़े अव्यवस्थित हो।'

मेरे निकट समय का मूल्य नहीं, कितना गलत विधान है, अरुणा, वियोग के यह दो मास मुझे दो युग प्रतीत हो रहे हैं। और तुम कहती हो समय का मूल्य नहीं। विषाद की छाया उसके मुख पर कालिमा छा गई। आंखों से दो अश्रुबिन्दु बरबस ढुलक पड़े।

अरुणा का मुख म्लान हो गया। अपने को संभाल कर शरच्चंद्र का हाथ अपने हाथ में लेकर उसने कोमल व कातर स्वर में कहा 'चलो चाय पी लो.............' यह अधिक बोलने में असमर्थ हो गई, गला भर आया था।

शरच्चंद्र एक कुर्सी पर अनमना सा बैठ गया। अरुणा ने चाय व जलपान का सामान लाकर टेबुल पर रख दिया। शरच्चंद्र ने देखा अरुणा की पलकें गीलीं हो गई हैं। शरच्चंद्र ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखकर कहा 'मैं अधिक दिन घर नहीं रहूँगा, आठ दिन में ही वापिस आ जाऊँगा अरुणा।'

अरुणा अपने को संभालने में असमर्थ हो गई। शरच्चंद्र के कंधे पर सिर रख कर सिसकियां भरने लगी।

* * *

शरच्चंद्र घर आ गया है। उसकी मां के आनन्द का वारापार नहीं है। अबकी बार वह आनन्दित दिखाई नहीं देता। एक बार भी वह माँ की गोदी में सिर रख कर नहीं सोया। एक बार भी 'देखो मां' कहकर उसे नहीं झकझोरा। एक बार भी मां भूख लगी है कहकर उसे परेशान नहीं किया। हरसाल जब शरच्चंद्र घर आता उस समय घर में खिलवाड़ तथा आनन्द-स्त्रोत बह उठता था, सारा वातावरण उत्फुल्ल हो जाता था। उसका स्वभाव हंसोड़ तथा आनन्दी था। किन्तु अबकी उसकी उदासीनता तथा मौन ने मां को ही नहीं सब को आश्चर्य में डाल दिया है।

उस दिन शरच्चंद्र संध्या समय 'आर्य-समाज वाचनालय, में गया

था। इस मास के 'चांद' में उसकी कहानी आने वाली थी। उसे देखने वह वहाँ आ गया था। शरच्चंद्र को लेखक के रूप में वहां का व्यवस्थापक जानता था। उसकी कहानी पढ़ कर वह बहुत प्रभावित हुआ। कहानी 'विधवा विवाह' पर लिखी गई थी। और बहुत परिणाम दर्शिणी उतरी थी। आज ही वह कहानी व्यवस्थापक ने पढ़ी थी और आज ही अचानक शरच्चंद्र से भेंट हो गई। व्यवस्थापक ने उसके निकट आकर कहा 'आप से कुछ बातें करनी है। जरा उस हॉल में चलने की आप कृपा करेंगे।'

'हां, हां सहर्ष।'

व्यवस्थापक ने चांद का अंक उठा लिया। दोनों उस हाल में आ गये। हाल काफी बड़ा था और समाज-मंदिर में था। दोनों एक गोल मेज की आस पास की कुर्सियों पर बैठ गये। 'चांद' के अंक में से शरच्चंद्र की कहानी निकाल कर वह बोला 'यह कहानी आपकी ही है?'

'हां'

'बहुत सुन्दर कहानी है'।

शरच्चंद्र ने हंस दिया।

व्यवस्थापक ने कहा 'सचमुच, साहित्यकार युग-निर्माता होते हैं। देश में क्रान्ति उपस्थित करने का प्रथम साधन साहित्य ही है। फिर चाहे वह क्रान्ति सामाजिक हो, राजकीय हो या धार्मिक।'

शरच्चंद्र ने गंभीरता से कहा 'हां, साहित्य मध्यवर्ती केन्द्र है। समाज, राजकारण, तथा धर्म वह उसके आस पास चक्कर लगाने वाले ग्रह हैं। देश की उन्नति के प्रीत्यर्थ जब साहित्य जाग्रत भावनाओं को जन्म देता है तब देश का सामाजिक, राजकीय, धार्मिक वातावरण क्षुब्ध हो उठता है। यही क्रान्ति है। साहित्यकार सर्व-प्रथम क्रान्ति कारक होते हैं।'

व्यवस्थापक ने कहा 'हृद-जनित कल्पनाएं या सिद्धांत, कार्य-रूप में परिणत हो जायं तो हमारे देश का भाग्य जग जायगा।'

'मैं आपका कहना समझा नहीं।'

व्यवस्थापक ने सुनहरी फ्रेम के चश्मे से अपनी तीक्ष्ण नजर शरच्चंद्र के मुख पर गड़ा कर कहा 'हृदय-जनित कल्पनाएं कहो, भावनाएं कहो, सिद्धांत कहो कागज पर अंकित करने के अतिरिक्त आज का नवयुवक लेखक इससे अधिक अपना कर्तव्य नहीं समझता। कोरे शाब्दिक ज्ञान से देश की उन्नति होना नितांत असम्भव है। शाब्दिक ज्ञान के साथ-साथ ठोस कार्य की अत्यंत आवश्यकता है। जिस कल्पना, भावना, सिद्धांत को हम जन्म देते हैं उस सिद्धांत के अनुसार आचरण करना भी तो सब से बड़ा सिद्धांत है।'

'किन्तु आपने कैसे जाना कि मैं अपने कथित 'सिद्धांतों के प्रतिकूल चलता हूँ।'

'मैंने तो भाई, सर्व-साधारण की बात कही है। किसी व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में मेरा कहना नहीं है।'

वाद-विवाद के जोश में शरच्चंद्र अपनी परिस्थितियां भूल गया था। उसने तेजी से कहा 'माना कि आपने सारे नवयुवक-लेखक-समुदाय को लक्ष्य करके कहा है। उसी समुदाय का एक अंग मैं भी हूँ। आपके सम्मुख उपस्थित हूँ। अपने कथित सिद्धान्त का पालन न करने का पाप आप मेरे सिर मढ़ रहे हैं। ऐसा मैं क्यों न समझूं?'

'माफ कीजिये शरच्चंद्र अपने अनुभवों के बल पर मैं विश्वास करता हूँ कि समय आने पर आप भी पीछे हट जायंगे।'

'किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि समय आने पर मैं अपने सिद्धांतों का प्रखर रूप से पालन करूँगा।' शरच्चंद्र ने जोश में आकर कह दिया।

'देखिये, समय आने पर आप भी साहब, अपने कर्तव्य से च्युत

हो जायंगे ।'

चोट सीधी की गई थी। शरच्चंद्र ने आहत होकर आवेग से कहा 'मुझे दुःख है कि आपने बिना सोचे-समझे मेरे संबंध में गलत कल्पना कर ली है। इस तरह किसी का जान बूझ कर अपमान करना किस सभ्यता का द्योतक है, यह मेरी समझ से परे है।'

स्थिर दृष्टि से शरच्चंद्र की ओर देख कर उसने कहा 'आपकी इस कहानी में जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है क्या समय आने पर आप उसका परिपालन करेंगे ?'

'समय इसका उत्तर देगा। समय आने पर देश और समाज के लिए मैं अपने आपको बलिदान कर दूंगा।'

व्यवस्थापक ने अपनी गोल आँखों का प्रखर तेज शरच्चंद्र के मुख पर डाल कर कहा 'आपके इन विचारों पर मुझे अनुपम आनन्द है। मैं आपका अभिनन्दन करता हूं। भाई शरच्चंद्र समय की प्रतीक्षा करने की आवश्कता नहीं है। दो दिन पहिले समाज-मंदिर में एक विधवा आई है। विधर्मियों के अमानुष छल से घबरा कर वह समाज की शरण आई है। किसी आर्यपुत्र से वह विवाह करना चाहती है। दो दिन हो गये मुझे परेशान होते किन्तु किसी नवयुवक का साहस उससे पुनर्विवाह करने का नहीं होता। उसे अपना कर आप उससे विवाह करेंगे तो एक हिन्दू विधवा का जीवन सुखमय बनाने का तथा अपना सिद्धांत कार्य रूप में परिणित करने का पुण्य आपको प्राप्त होगा। लड़की अप्रतिम सुन्दर है।'

और इसी क्षण अरुणा का सुन्दर मुख, उसकी करुणापूर्ण आंखें, उसकी काली-काली अलकें शरच्चंद्र के आंखों के सम्मुख घूम गईं। वह असावधान हो गया। अवाक् हो वह व्यवस्थापक की ओर देखने लगा। उसकी आंखों का तेज नष्ट हो गया था और मुख म्लान। किंकर्तव्यविमूढ़ ! उसने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि इतनी

विकट परिस्थिति उसके सामने उपस्थित हो जायगी। उसके हृदय में कर्तव्य तथा प्रेम में जोर का संघर्ष आरम्भ हो गया था। वह सोच नहीं पाता था कि वह क्या करे ? क्या कहे ? उसने एकबार व्यवस्थापक की ओर कातर दृष्टि मे देखकर सिर नीचा कर लिया।

उसने सुना व्यवस्थापक कह रहा है 'क्षमा करना शरच्चंद्र जी। मुझे तो रोज का यही अनुभव है। आपको यदि यह बात अस्वीकार हो तो आप सहर्ष जा सकते हैं। आपकी कहानी पढ़कर उज्ज्वल आशा की कोमल किरण मेरे हृदय में उत्पन्न हो गई थी। आपको दुख देने का अभिप्राय मेरा नहीं था। यह तो किसी व्यक्ति-विशेष का काम नहीं है, समाज का है, पर्याय से देश का है। जिसे अपनाना कर्त्तव्य-शील-पुरुषों का काम है।

पिंजरे में बंद शेर की तरह शरच्चंद्र ने आहत होकर पीड़ित शब्दों में कहा 'व्यवस्थापकजी, मेरे हृदय में भयानक कोलाहल उत्पन्न हो गया है। जिसमें मेरे कर्तव्य का मधुर निनाद सुनाई नहीं देता। मैं क्या करूँ ? महाशयजी अरुणा नामक एक भोलीभाली लड़की से वचन-वद्ध हो चुका हूँ कि मैं उससे ही विवाह करूँगा नहीं तो......।'

व्यवस्थापक ने बीच ही में कहा 'उसका तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ।'

'कालेज में हम दोनों पढ़ते हैं। पहिले घनिष्टता हुई और वह घनिष्टता प्रगाढ़ प्रेम में परिवर्तित हो गई।'

व्यवस्थापक ने हंस दिया, उस हंसी में उपहास स्पष्ट था। वह अविवाहिता है ?

'हां'

वह महापुरुष कुछ कठोर हो गया। उसने कहा 'कालेज में प्रेमालाप पवित्र शिक्षा का अपवित्र पर्यवसान, हाय ! हाय ! जिन पर भारत का भाग्य निर्भर है, जो देश की संपत्ति है और जिनकी ओर बूढ़ा,

जर्जरित, दुर्दशाग्रसित निर्धन भारत आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है वह नवयुवक, वह देश की सजीव संपत्ति कालेज में प्रेम-चेष्टा करें। शरच्चंद्र, देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है! भाई मेरा अपना विचार है कि कालेज का प्रेम स्थिर नहीं होता। वह उच्छृंखलता है। आपकी अरुणा अविवाहिता है। कितने ही नवयुवक उससे विवाह करने को तय्यार हो जायंगे पर यह बाल—वि......।

शरच्चंद्र ने बीच ही में कहा 'यौवन के प्रभात में मुझे पवित्र प्रेम का पाठ पढ़ानेवाले उस प्रेम को कलंक न लगाइए, यह मेरी आपसे विनम्र विनती है। भाई साहब मैं तो अरुणा के अतिरिक्त सारी आर्य-कन्याओं को भी......।'

और इसी समय सामने के कमरे का द्वार खोलकर एक युवति बिजली जैसी तड़पकर उन दोनों के सामने आखड़ी हुई। दोनों उधर देखने लगे। शरच्चंद्र ने देखा युवति अनुपम सुन्दरी है। और उसका मुख क्रोध के कारण आरक्त हो उठा है। उस युवति ने व्यवस्थापक को लक्ष्य करके कड़क कर कहा—'व्यवस्थापकजी, दो दिन हो गये हैं आपके आश्रम में आये, किन्तु अभी तक मेरा उचित प्रबंध नहीं हुआ है। रोज तमाशा देख रही हूँ जिस किसी को आप पुनर्विवाह करने को कहते हैं वही अपने प्रेम की कहानी रटने लग जाता है। समाज, देश, धर्म, चाहे रसातल को चले जायें पर इनके प्रेम में बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए। किसी का साहस मुझसे पुनर्विवाह करने को नहीं होता। मानों मैं बाघिनी हूँ। इनको खा जाऊँगी। यह समझते हैं मैं पतिता हूँ, पर पवित्र मातृप्रेम की शपथ खाकर, ईश्वर को साक्षी करके मैं आपको विश्वास दिलाती हूं कि प्राणों की बाजी लगा कर अभी तक मैंने अपना नारीत्व संरक्षण करके रखा है। किन्तु अब वही नारीत्व परिस्थितियों के भयानक आघात से घबरा उठा है। आज की रात और बाट देखती हूँ कल से इसी नारीत्व को बेंचकर

मैं अपना जीवनयापन करूँगी।' उसके आकर्ण नेत्रों से अश्रुप्रवाह बह उठा। वह करुणा की मूर्तिमती प्रतिमा बन गई।

व्यवस्थापक की आंखों में आंसू आ गये। उसने आकाश की ओर देखकर कहा 'भगवन्, भारत की यह अकर्मण्यता कब नष्ट होगी! हे देव, भारत के नवयुवकों में पर्याप्त बल दो कि वह कठोर कर्तव्य पर अग्रसर होकर भारत का उद्धार करें।' तथा आँखों में सारी करुणा समेट उसने शरच्चंद्र की ओर देखा। एकाएक शरच्चंद्र तनकर खड़ा हो गया। उसने आवेग से कहा 'व्यवस्थापकजी, मैंने कर्तव्य के अग्नि-कुंड में प्रेम की आहुति डाल दी है। मैं इनसे विवाह करने को प्रस्तुत हूँ। परसों आप विवाह की तैयारी कर लीजिए।' और वह द्रुत गति से समाज-मंदिर के बाहर हो गया।

* * *

बात की बात में वह घटना सारे शहर में फैल गई कि राय बहादुर पंडित रामनाथ का पुत्र शरच्चंद्र एक विधवा से पुनर्विवाह करेगा। कितना आश्चर्य!

शरच्चंद्र की अवस्था अत्यंत शोचनीय हो गई है। प्रेम और कर्तव्य मे जोर का युद्ध आरम्भ हो गया है। कभी प्रेम की विजय होती है कभी कर्तव्य बाजी मार ले जाता है। किन्तु अब क्या? कर्तव्य के लिये प्रेम का त्याग करना ही होगा। साकार मूर्ति की पूजा छोड़कर निराकार प्रेम की आराधना करनी होगी।

इन्हीं विचारों मे व्यस्त वह प्राप्त परिस्थिति पर विचार कर रहा था कि एक नौकर ने आकर कहा 'भैया, मालिक बुला रहे हैं।'

शरच्चद्र व्यवस्थित हो पिता के कमरे में उपस्थित हुआ। अभि-वादन करके सिर नवाकर खड़ा हो गया।

पं० रामनाथ ने कहा 'शरच्चंद्र शहर में जो अफवाह फैल रही है क्या वह सत्य है?'

शरच्चंद्र के ध्यान में सारी परिस्थिति आ गई। फिर भी उसने नम्रता से कहा 'कौनसी पिताजी ?'

'तुम एक विधवा से विवाह कर रहे हो ?'

...........?

बोलते क्यों नहीं सच सच बताओ ?

...........!

'मौनं सम्मति लक्षणं' तुम्हारा मौन इस बात का साक्षी है कि जो अफवाह फैल रही है वह सत्य है।'

...........?

शरच्चंद्र तुमने बहुत बुरा किया। मेरे वृद्ध हृदय पर यह जोर का आघात है। मैंने तुम्हारा विवाह इलाहाबाद के ख्यातनामा रईस पं० काशीनाथ की पुत्री 'अरुणा' से निश्चित कर दिया था और...।

शरच्चंद्र के मुख से अचानक निकल गया 'अरुणा से...... काशीनाथ की पुत्री अरुणा से......।'

'हां, मैंने उन्हें परसों चिट्ठी डालकर स्वीकृति दे दी है।'

'पिताजी स्वयम् अरुणा से उसका विवाह करने को तैयार हैं। कितना आश्चर्यमय, कितना अचानक योग है। अब अरुणा से विवाह करने में उसे कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी। कितना जबरदस्त प्रलोभन था, शरच्चंद्र के हृदय ने कहा प्रलोभनों का त्याग करके कर्तव्य के पथ पर अग्रसर होना ही मनुष्यता है-खरी वीरता है।

'शरच्चंद्र' मेरे बुढ़ापे की तरफ देखकर अपना निश्चय बदल दो।'

शरच्चंद्र ने स्पष्टतः कह दिया 'भारत भी वृद्ध हो गया है पिता-जी, और रूढ़ियों की शृंखलाओं से आवद्ध। उसके उद्धारार्थ जो निश्चय मैंने किया है वह बदलना अपने कर्तव्य से च्युत होना है। भारत को स्वतंत्र करने के लिए रूढ़ियों की शृंखलाएँ तोड़नी ही होंगी।'

'तो तुम्हारा निश्चय नहीं बदल सकता।'

शरच्चंद्र ने सिर हिला दिया 'नहीं'।

'अच्छा, बहुत अच्छा, ठीक है—आज से हमारा तुम्हारा कोई संबंध नहीं रहा। तुम मेरे पुत्र नहीं मैं तुम्हारा पिता नहीं। सनातन-धर्म का उल्लंघन-अपमान-स्वयम् मेरा पुत्र करे इससे अधिक मेरे लिए कलंक की बात और क्या हो सकती है। तुम्हारे बनिस्बत मुझे मेरा धर्म अधिक प्रिय है। जाओ अभी मेरे घर से निकल जाओ।'

शरच्चंद्र का मुख तमतमा उठा। वह अपने कमरे की ओर चल पड़ा।

'शरच्चंद्र किधर जा रहे हो?'

'कर्तव्य के पथ पर।'

द्वार में से दीखनेवाली सड़क की ओर अंगुली निर्देश करके पं० रामनाथ ने कहा 'कर्त्तव्य का पथ वह है। इस कमरे पर व इस घर की किसी चीज पर अब तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।'

पंडित रामनाथ का चिल्लाना सुनकर उनकी पत्नी-शरच्चंद्र की वृद्धा मां-उधर से आ रही थी। सम्मुख मां को देखकर शरच्चंद्र की आँखों में आंसू आ गये। उसने गद्‌गद् स्वर में कहा 'मां'

'कहाँ जा रहे हो बेटा?'

मां के चरण छूकर उसने कहा 'मां आशीर्वाद दो कि मैं अपने विचारों पर दृढ़ रहूँ।........मां।' अपने हृदय को दुर्बल होते देख शरच्चंद्र तेजी से घर के बाहर हो गया।

मां उसके पीछे दौड़ पड़ी। चिल्लाकर उसने कहा 'कहां जा रहे हो मेरे लाल जलपान तो कर जाओ शरच्चंद्र......शरद्।'

किन्तु उसका शरच्चंद्र लौटा नहीं। दरवाजे की ठोकर खाकर वृद्धा वहीं गिर पड़ी।

* * *

'अरुणा देवी !'

'कौन, विमलचंद्र !'

'हां'

'आइये' एक नवयुवक सम्मुख उपस्थित हो गया।

अरुणा ने कहा 'आज किधर भूल पड़े विमलबाबू !'

'मैं आज तुम्हें एक दुखद समाचार सुनाने आया हूं।'

'दुखद समाचार, विमलबाबू शरच्चंद्र तो आनन्द में हैं।'

'शरच्चंद्र, आनन्द में हैं। सुख में हैं। उस जैसा सुखी मनुष्य इस समय दुनिया मे और कोई नहीं है।'

'तो फिर दुखद समाचार कैसा ! उनके सुख में जिसे सुख उनके आनन्द में जिसे आनन्द......।'

'कितनी भोली हो अरुणा देवी। हर हर !! ऐसा सरल हृदय और ऐसा विश्वासघात !' विमलचंद्र ने एक दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा।

'यह क्या कह रहे हो ! मेरी समझ में नहीं आता। मेरी उत्कंठा न बढ़ाओ। विमल बाबू।'

'मैं तुम्हें स्पष्ट ही कहे देता हूँ, अरुणा देवी, जिसके सुख में तुम अपना सुख समझती हो, जिसके लिए तुमने सर्वस्व अर्पण किया है, और जिसके सहवास में अपने जीवन को बिताने की मनोरम कल्पना में तुम मस्त हो उसी तुम्हारे सुखसर्वस्व शरच्चंद्र ने विधवा से पुनर्विवाह कर लिया है।' और उसने 'हिन्दुस्थान' का ताजा अंक अरुणा के सम्मुख रख दिया। उसे पढ़कर अरुणा ने ऊँचे स्वर में कहा 'अशक्य, नितान्त असम्भव। शरच्चंद्र मुझ से विश्वासघात करेंगे यह धारणा करना उनके प्रति अन्याय करना है। जिनके रोम-रोम में अरुणा बस रही है वह विधवा से विवाह करेंगे, कितनी भ्रामक भावना है। विमल-चंद्र यह कोई दूसरा शरच्चंद्र होगा।

'किन्तु राय बहादुर पंडित रामनाथ का पुत्र यही एक शरच्चंद्र है। उनके तो और दूसरा शरच्चंद्र नहीं है। क्या तुम भूल गईं अरुणा देवी कि तुम्हारे शरच्चंद्र के पिता का नाम राय बहादुर पंडित रामनाथ है।'

अरुणा का हृदय धक से रह गया। उसकी आँखें खुली की खुली रह गईं। हायरे शरच्चंद्र !

* * *

यथा-समय पुनर्विवाह सम्पन्न हो गया। नववधू को लेकर शरच्चंद्र एक घर भाड़े पर लेकर अलग रहने लगा।

उस दिन रामनाथ पंडित घर से बाहर नहीं निकले, सारा दिवस वह रोते रहे, धर्म की भलती कल्पनाओ के वशीभूत होकर उन्होंने अपना जीवन कंटकमय बना लिया है। पर शरच्चंद्र की माँ उसका वियोग सहन न कर सकी। वह शरच्चंद्र के पास चली गई।

उस दिन शरच्चंद्र अपने कमरे में बैठा प्राप्त परिस्थिति पर विचार कर रहा था। किसी का पदरव सुनकर उसने सामने द्वार की ओर देखा अरुणा आ रही थी। उसको देखते ही वह चौंक पड़ा। अरुणा मंदगति से आकर शरच्चंद्र के सामने खड़ी हो गई।

अरुणा को देखते ही शरच्चंद्र के हृदय के कोमल तार सारे के सारे एक दम झनझना उठे। उसने कंपित स्वर में कहा—'अरुणा, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ।'

अरुणा ने शान्ति पूर्वक कहा—'मैं सब बातें जानती हूँ। कल मैं तुम्हारे घर आई थी। तुम घर नहीं थे। तुम्हारी पत्नी ने-बहन नलिनी ने-सारी कथा सुना दी है। शरच्चंद्र मैं तुम्हारे त्याग का अभिनन्दन करने आई हूँ। तुम जैसे नवयुवकों की कर्तव्य के प्रति सजगता भारत के उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक है। तुम्हारे इस अनुपम त्याग पर नारी-जाति तुम्हारी सदैव कृतज्ञ रहेगी।'

अरुणा मैं यह क्या सुन रहा हूँ। तुम देवी हो। तुम जैसी कन्याओं को पाकर भारतमाता निहाल हो जाती है। अरुणा, मेरी अपनी इच्छा है कि तुम विमलचंद्र से विवाह करो…………।

शरच्चंद्र तुम्हारे प्रेम मय सहवास में जीवन व्यतीत करना जिसकी साध थी, जीवन की सारी आशाएं, हृदय की सारी भावनायें, अंतःकरण का सारा आनंद जिसने तुम्हारे चरणो पर समर्पण कर दिया था, जिसके हृदय में तुम्हारे स्मरण मात्र से उषःकालीन पवित्र आनन्द उमड़ पड़ता था, तुम्हारे वियोग की कल्पना से जिसके हृदय में दुख के बादल मंडराने लगते—अमावस की काली रात आ जाती—तुम्हारी हंसी जिसके हृदय में आनन्द बिखेर देती और तुम्हारी करुणा जिसे रुला देती, उसे कह रहे हो कि विमलचंद्र से विवाह कर लो। जो स्वयम् शरच्चंद्र बन गई है उससे कह रहे हो विवाह कर लो। मैंने उस अमर शरच्चंद्र को पाया है जिसे कोई दूर नहीं कर सकता।

शरच्चद्र ने कहा—'सत्य है। अरुणा, संयोग ही प्रेम का मूल्य नहीं है। प्रेम में वियोग का स्थान प्रथम और श्रेष्ठ है। वियोग की व्याकुलता में जो अपना जीवन व्यतीत करता है उस वियोगी के सम्मुख माया अपनासा मुँह लेकर रह जाती है।'

उसी समय नलिनी वहां आ गई। उसने अरुणा से कहा 'बहन तुम अपने शरच्चंद्र को ले जा सकती हो। किन्तु याद रखिये मैं तुम को नहीं छोड़ूँगी। तुम दोनों की पूजा में अपना जीवन व्यतीत करूंगी।'

'मेरे शरच्चद्र को मुझसे अलग करने की किसी में शक्ति नहीं है। जानती हो बहन, मेरे शरच्चंद्र कहां बसते हैं? यहां-इस मंदिर में, इस हृदय-मदिर में। बहन जिन्होंने नारी-जाति के उद्धार के लिए अपने सुखों को तिलांजलि देदी उनके तत्वपर-नारी जाति के प्रीत्यर्थ मैं अपना भविष्य का जीवन न्योछावर करूंगी।'

इसी समय शरच्चंद्र की मां ने आकर कहा 'कल से यह कौन आ

रही है शरच्चंद्र ? बड़ी हंसोड, मिलनमार, शालीन लड़की है !'

शरच्चंद्र ने हंसकर कहा—'मां यह तुम्हारी बहू है।'

'वाह वाह, मेरी बहू तो यह खड़ी है।'

नलिनी ने कहा 'नहीं नहीं मां यही तुम्हारी खरी बहू है।'

और इसी समय अरुणा ने कहा 'माता प्रणाम अपनी इस अबोध लड़की को आशीर्वाद प्रदान करो कि वह नारी-जाति के उद्धार में सफलता प्राप्त करे।'

शरच्चंद्र ने कहा 'मां यह पं० काशीनाथ की पुत्री अरुणा है।'

और उसने देखा माता की आंखों में एक अनुपम स्नेह की ज्योति प्रज्वलित हो उठी है। अरुणा की आँखों में एक पुण्यमय प्रभा प्रदीप्त हो उठी है। नलिनी की आंखों में एक अपूर्व आनन्द नर्तन कर रहा है। और स्वयं शरच्चंद्र !

बैरंग लिफाफा

वह भागी जा रही थी। तन-मन की सुध भूल गई है। भागना है। भागते रहना है। मंजिल पाने पर ही रुकना है। मंजिल पाने के लिए ही वह दौड़ पड़ी थी। मंजिल के मार्ग में जोर की ठोकर खाकर वह जागी है। पर लौट न सकी। भागती ही जा रही है। पांव सड़क पर रुकते नहीं हैं, हवा में जैसे उड़ी जा रही है। अंचल हवा के साथ उड़ा जा रहा है। उसका बहुत थोड़ा भाग अब कंधे पर टिका है। वेणी आधी खुल गई है, पीठ पर बिखर गई है। हवा के साथ वह भी उड़ने का प्रयत्न कर रही है। वह बंधन में है उड़ न सकी। आंखों में विस्मृति है, पुतलियां पानी में तैर रही हैं। गरम-गरम बूँदें कपोलों की आरक्तता धोने का असफल प्रत्यन करती पतनोन्मुख हो जाती हैं। वह भागी जा रही है। चाहकर भी रुक न सकी।

वह क्यों भागी जा रही है? यह समय भागने का नहीं है। ऐसे समय जबकि घर पर सारे सुखों के साज उसका स्वागत करने के लिए उतावले हो रहे थे, वह घर से क्यों निकल पड़ी। किस आकर्षण में भूली वह सारे सुखों को ठुकरा भागी जा रही है। उसकी प्रत्येक भाव-भंगी चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है, वह ठगी गई है। जरा सी असावधानी के कारण वह कुछ खो बैठी। उसमें उसका अपना क्या था! दूसरे की थाली लुट गई है। इच्छा होने पर भी रोक न सकी, बचा न सकी। असमर्थ हो गई। किस अपरिमित साहस के साथ उसने उसे सम्हालने का विश्वास दिलाया था। वह उसका साहस मर क्यों गया! वह अब प्रसन्न को किस तरह मुँह दिखा सकेगी? वह और जोर से दौड़ने लगी।

सड़क पर चलने वाले प्रवासी उसकी ओर देख रहे हैं अचंभित-

वह उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखती। मोटर के नीचे दबते-दबते बची—ड्रायवर एक दो गालियाँ देकर मोटर घुमाकर ले गया। पर वह एक भी घटना को नहीं जानती। वह भागना जानती है। मंजिल पर पहुँचने पर ही रुकेगी।

पाँव तो दौड़ने का साधन मात्र है। मन ही असल में दौड़ रहा है। कितनी गति है उसमें-पर पार्थिव शरीर तो उसके साथ न चल सकेगा। अशरीरी मन हवा से भी अधिक वेग से दौड़ सकेगा, पर शरीर में मन की अविराम गति के साथ दौड़ने की सामर्थ्य कहाँ? थकना उसका गुण है। वह थक गई। पसीने की बूँदें टपटप गिरने लगीं। उरोभाग ऊपर नीचे हो रहा था। गोरी नाक लाल हो गई—उसमें से श्वासोछ्वास जोर-जोर से चल रहा था। मुख म्लान हो गया था। आँखें निस्तेज। मन के साथ दौड़ने का प्रयत्न विफल हो गया। वह रुकी। मन न रुका। रुकना उसका स्वभाव नहीं। वह भाग ही रहा था। अतीत की ओर भागा जा रहा था।

अंचल पूरा खिसककर सड़क की धूल में जा गिरा था, ब्लाऊज के बटन खुल गये थे। उसका उरोभाग स्पष्ट ही दीख रहा था। उसे उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं। मार्गगामी इसकी ओर देख रहे हैं। अनुपम सुन्दरी है वह। एक दो पथिकों ने उसकी ओर देखा, जैसे वह अपनी आँखों ही आँखों में उसे पी जाएँगे। आनन्दी ने उनकी ओर देखकर हंस दिया। आँखों से कितने ही भाव निकल कर सड़क पर बिखर गये मानो वह कह रही हो "अब मेरे पास कुछ नहीं बचा है। मैं लूट गई हूँ—मैं लूट गई हूँ!"

वह हँसी, हँसती रही, चुप हो गई। अतीत में खो गई। म्लान—मुख प्रसन्न जब घर आया था तब आनन्दी ने हंसकर कहा था "तुम कितने दुबले हो गये हो प्रसन्न! आखिर इतनी चिन्ता भी......"।

"चिन्ता!" प्रसन्न ने कहा था, उसे स्मरण हो आया "आनन्दी

उत्तरदायित्व ऐसी ही चीज है। अपने उत्तरदायित्व को निभाने की कला जिसे ज्ञात नहीं, वह क्या पुरुष है ? आनन्दी, तुम्हारा नाम है आनन्दी, मेरा नाम है प्रसन्न। कदाचित् हमारे माता-पिता ने सोचा होगा कि हम दोनों आजीवन अपने नामों को सार्थक करते रहेंगे। इसीलिए यह नाम उन्होंने हमें प्रदान किये, पर आनन्दी माता-पिता की इस चाह के पीछे छिपे हुए उत्तरदायित्व को मैं निभा सका हूँ ? क्या मैं प्रसन्न कहलाकर भी तुम्हें प्रसन्नता दे सका ? तुम्हें सचमुच आनन्दी बना सका ? तुम चाहे मुझे प्रसन्न करने के लिए अपने मुख पर हँसी लाने का भले ही प्रयत्न करो पर उस हँसी में वेदना को बिलखते मैंने देखा है। ओह उत्तरदायित्व······ ।"

तब आनन्दी ने गंभीर होकर कहा था, उसे स्मरण हो आया "तुम पुरुषों ने अपने आप स्त्रियों के उत्तरदायित्व का बोझ अपने सिर पर योंही ले लिया है। उनकी जिम्मेदारी उन पर छोड़ दो। उन्हे स्वतंत्र कर दो। अपनी-अपनी जिम्मेदारी को अनुभव कर जीवन में एक स्वतंत्र प्रेम की सृष्टि ··।"

"किन्तु···।"

"किन्तु बिन्तु कुछ नहीं प्रसन्न।" उसे स्मरण हो आया कि उसने दृढ़ता से कहा था "प्रसन्न बताओ, तुम्हें दुखी देख कर क्या मैं आनन्दी हो सकती हूँ। नित्यप्रति तुम्हारी यह अवस्था देखते-देखते मुझे तो अपने प्राण भारी हो रहे हैं। प्रसन्न, मैं तुम्हें प्रसन्न न कर सकी तुम मुझे आनन्दी न बना सके, तब हम रह ही क्या जाते हैं ? मेरी कला अगर तुम्हें प्रसन्न न बना सकी तो वह किस काम आएगी। प्रसन्न, मुझे आज्ञा दो मैं अपनी कला का प्रदर्शन कर तुम्हें प्रसन्न करने में समर्थ हो सकूँ।"

"पर ···।"

उसे स्मरण हो आया कि उसने प्रसन्न को बोलने नहीं दिया था,

बोली थी "प्रसन्न, विश्वास नहीं करते ? एक दूसरे के प्रति अविश्वास क्या कभी जीवन में स्थिरता ला सकता है ? आनन्दी तुम पर विश्वास करती है प्रसन्न ! मेरे प्रति तुम्हारा अविश्वास जीवन में कभी प्रसन्नता न भर सकेगा। पगली नारी जिसे एकबार पति कहकर मान लेती है आजीवन प्रसन्न, आजीवन इसी पागलपन में स्वयम् को भूली-सी रहती है।"

"नारी······ना······री······ऊँ" अब वह रुक न सकी। भागने लगी। भागने से पहिले वह मुस्कराई थी, या रोई थी, वह स्वयम् नहीं समझ पा रही है। पथिकों ने उसे देखा था। उसकी मुस्कराहट में हँसी के आवरण से ढँकी वेदना बिखर पड़ी थी। कैसी भयानक !

भागने लगी, मन अतीत में डूब गया है। प्रसन्न ! प्रसन्न !! हँसता सा प्रसन्न मानस-पटलदीखने लगा। रुकी, सोचा—"उस दिन पांच सौ रुपये वेतन का वह पत्र······।" नौकरी की तलाश में गया प्रसन्न जब घर लौटेगा तब यह शुभ समाचार वह उसे सुनाएगी, वह आनन्द से खिल पड़ेगा। आनन्दी अपना नाम सार्थक करेगी। स्थिर आँखे क्षितिज पर टिके नीले अंबर में अतीत के चित्र देख आत्म-विस्मृत हो गई।

प्रसन्न घर लौटा था। वह म्लान, उदास मुख, जैसे उसके जीवन का प्रकाश नष्ट हो गया है, एक प्रगाढ़ अंधकार ही उसके जीवन में रह गया है, और उस अंधकार में उसकी चेतना, उसका आनन्द, उसकी प्रसन्नता सारे के सारे विलीन हो गये हैं, खो गये हैं। आजीवन वह उन्हें पा न सकेगा। आनन्दी आज उसका जीवन प्रकाश से आलोकित कर देगी। आज उसे प्रसन्न करके ही चैन लेगी। प्रसन्न उसका पति है। वह उसके लिए उत्सर्ग हो जाना जानती है। उसे स्मरण हो आया कि कितनी उत्सुकता और उल्लास के साथ उसने उसका स्वागत किया था। उसके जूते के बन्द उस दिन उसी ने खोले थे। उसके बालों में अपनी पतली लाल लाल उँगलियाँ डाल कर उसने कहा था "प्रसन्न

एक बार हँसो, हँस दो प्रसन्न.........।"

"आनन्दी" इतना ही वह कह सका था और उसकी आँखें डबडबा आई थीं। क्षितिज पर टिकीं उसकी आँखों से भी नीर बहने लगा। प्रसन्न ने कहा था, उसे स्मरण हो आया, कहा था "आनन्दी, काश जीवन में तुम्हारा साथ न होता, संयोग न होता तो मैं अब तक आत्म-हत्या कर चुका होता। जब यह भयानक विचार मन में आता है तब आनन्दी तुम...तुम.........।"

वह सोच रही है, संपूर्ण आनन्द आँखों में बसाये उसने प्रसन्न की ओर देखा था। जैसे प्रसन्न को अपनी आँखों की पुतलियों में जड़ लेगी, प्रसन्न में वह लीन हो जायगी।

"प्रसन्न एक बार हँसो, देखो यह क्या है?"

प्रसन्न ने लिफाफा खोल कर पढ़ा था। विस्मय-दुख-करुणा-थोड़ी प्रसन्नता से उसका मुख......।"

इसी समय एक नटखट युवक बिलकुल उसके पास से निकल गया। चलते–चलते वह अपने दाहिने हाथ से उसके बाएँ हाथ को स्पर्श भी करता गया। सड़क पर धूल में पड़े उसके अंचल को उसने ठुकरा भी दिया। उसका स्पर्श पा वह जागी, उसकी ओर देखने लगी। युवक भी उसकी ओर देख रहा था। ओह उसकी आँखें–इन आंखों की भावनाओं से वह खूब परिचित है। उसीमें तो उसकी समूची नारी डूब गई है। वह भागने लगी। क्यों वह रुकी है? रुककर उसने अपनी आत्मा के साथ अन्याय किया है। रुकना उसे अब नहीं है। अपने में गति को सजीव रखना है। वह दौड़ने लगी। सड़क पर खड़ा वह नवयुवक अपने पीले दाँत निकालकर जोर से हंस पड़ा। युवक ने जोर से कहा "ओह कैसी सुन्दर है! पर पागल हो गई है, पगली नारी.....!"

यह शब्द उसने सुन लिये हैं। "पगली नारी" पांचों शब्द उसके हृदय में जाकर चिपक गये, "पगली नारी" हृदय टूटनेसा लगा, मन

जैसे शिथिल हो गया। पैर अब कैसे दौड़ सकते थे, सारा भार उनका हृदय और मन पर ही है, "पगली नारी" एक दिन उसने प्रसन्न से यही तो कहा था "पगली नारी" जिसे एक बार पति कर मान लेती है।" आज भी वह इसी पागलपन में दौड़ रही है। प्रसन्न के लिए ही भाग रही है। आज अपने में प्रसन्न को पा वह उद्वेलित हो उठी है, फिर प्रसन्न क्यों नहीं है ? क्यों वह रो रही है ? आनन्दी की नारी आज रो रही है। उसका विश्वास उसीमें घुलकर न जाने कहाँ बिलीन हो गया है। उसे स्मरण हो आया कि वह विश्वास को हृदय से चिपकाए थी, एक क्षण को भी दूर नहीं कर सकी थी। स्टूडियो से काम करके लौटती तब हंसती-हंसती अपने कमरे में जाती, प्रसन्न का फोटो हाथ में लेकर उसकी ओर देखती रहती, आँखों से आनन्द, उल्लास, प्रेम के पुष्प प्रसन्न पर बरसा, वह फोटो को चूम लेती थी। रोज का यही क्रम, नित्य का यही नियम, एक दिन भी बाधा नहीं पड़ी। उसकी समूची नारी में संपूर्ण प्रसन्न घुलमिल-कर आनन्दी बन गया था। उसकी आखों से प्रसन्न की प्रतिमा कभी ओझल नहीं हो सकी है। जिस अभिनेता के साथ वह काम करती थी उसमें उसने प्रसन्न को देखा था। उसे स्मरण हो आया कि कई बार काम करते समय उसे भूलकर उसको प्रसन्न कहकर पुकारा था, तब डायरेक्टर ने कई बार उसे इस सम्बन्ध में टोका भी था। एक बार तो वह बहुत नाराज हो गया था। प्रसन्न तो अब भी उसमें है...। किसी का पालतू कुत्ता सड़क पर गुजर रहा था। आनन्दी को ही अपनी मालकिन जान उसने अपने अगले दोनों पैर उसके घुटनों पर रख दिये। तथा उसकी ओर देखता, बारबार जीभ निकालकर अपने मुँह को चाट रहा था। आनन्दी जागी. उसने जाना वह फिर रुक गई है। उसे समय पर पोस्ट ऑफिस पहुँचना है। डाक निकल गई तो अपना पत्र कैसे छोड़ सकेगी ?

भागी वह, अब रुकेगी नहीं, पर अब अपने इस शरीर को मन वे

साथ कैसे रख सकेगी? मन की गति के साथ शरीर की जड़ता अब न निभ सकेगी। वह शरीर को निकालकर रख देना चाहती है। चाहकर क्या वह उस मन से अलग कर सकती है? वही शरीर जो सदा मन की प्रसन्नता पर खिल पड़ता था आज कैसा जड़, अचेतन, हो गया है। शरीर से उसे घृणा हो गई है, तब उसका मन प्रसन्न क्यों नहीं है? शरीर की जड़ता के साथ-साथ उसका मन भी भारी हो गया है। मन में भी कहीं कुछ हो गया है, चोट आ गई है। उसके शरीर में जो परिवर्तन हुआ है वह उसे भूली नहीं है भूल सकेगी भी नहीं—काश भूल सकती होती।

पोस्ट ऑफिस की सीढ़ी की ठोकर खाकर वह गिरते-गिरते बची। उसने देखा पोस्ट ऑफिस आगया है। एक बार उसने हाथ में पकड़े पत्र की ओर देखा। उसपर टिकिट लगाना है। वह सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर गई। पोस्ट ऑफिस अभी खुला नहीं था। वह सीढ़ी पर बैठ गई। दोनों जांघों का दोनो कोहनियों को सहारा दे, दोनों हथेलियों पर दोनों गाल टिका वह सामने देखने लगी।

उसे स्मरण हो आया कि कल इसी समय उसने प्रसन्न को पत्र लिखा था कि "तारीख .... को यहाँ अवश्य आजाना, मेरा पहिला चित्र प्रथम बार प्रदर्शित हो रहा है, दोनो साथ-साथ चित्र देखेंगे" कल कितनी प्रसन्न थी वह, और आज, आज उसे क्या हो गया है! उसकी लाल अलसित आंखें कह रही हैं कि वह सारी रात जागी है। उसका फूलसा मुख सदा के लिए कुम्हला-सा गया है। उसका उल्लास सो गया है। उसके हृदय—मंदिर में सदा प्रदीप्त रहने वाली ज्योति बुझी-सी जा रही है अपार स्नेह होकर भी वह बुझ रही है, उसके हृदय में तूफान उठ खड़ा हुआ है। प्रचंड झंझा में वह ज्योति अब बुझी अब बुझी थिरता उसमें नहीं......।

उसने सामने देखा, अस्ताचल से हंसता हुआ सूर्य बाहर निकल

रहा है, संपूर्ण सृष्टि प्रसन्नता से खिल पड़ी है, पर देखते-देखते एक काली बदली ने सूर्य को ढंक लिया और सारा प्रकाश बदली में समा गया। वह इधर न देख सकी। नीचे देखने लगी। आँखों में आँसू आ गये।

उसे यह भी स्मरण हो आया कि कल आखिरी सीन समाप्त होने पर वह कितनी आनन्दी थी। अब वह प्रसन्न से मिलकर प्रसन्न होगी। खेल में जिस कला को अपनाकर उसने काम किया था उस मूर्तिमान-साकार कला में आनन्दी को पा प्रसन्न कितना प्रफुल्लित हो उठेगा! अपना नया रूप दिखाने के लिए ही तो इतने दिनो से आनन्दी उससे छिपी-छिपी रही है। आवेग से उसने प्रसन्न का फोटो उठा लिया। उसको देखती रही, देखती रही-चूमना ही चाहती थी कि कॉल बेल बज उठी। "कौन है?"

"क्या मैं आ सकता हूँ?"

"स्वर को उसने पहिचान लिया। पाँच सौ रुपये प्रति मास देनेवाला उसका मालिक है वह......।"

"हाँ, हाँ आइए . ...।"

चित्र में सफलतापूर्वक सुन्दर अभिनय करने के अर्थ बधाई देने आया था वह, उसने तो यही कहा था। परन्तु उसकी आंखो में......
उसे स्मरण हो आया कि जीवन में प्रथम बार भयभीत हुई थी वह... और......और......चित्र में कई बार उसकी सतीत्व रक्षा के लिए दौड़कर आने वाला हीरो अब अपने कमरे में सुख की नींद सो रहा था। उसके जीवन का हीरो प्रसन्न, उसके वियोग में अपने घर में करवटे बदल रहा था। और..... वह रोई-चिल्लाई। मालिक के अट्टाहास में वह सब न जाने कहाँ विलीन हो गया, पता भी न चला। पशुता में संपूर्ण नारी डूब गई-प्रसन्न का विश्वास लुट गया।

सुबह चार बजे वह चला गया था।

वह हारीसी, अपमानित सी उठी। रोम-रोम क्रंदन कर रहा था

वह अब प्रसन्न को मुँह कैसे दिखा सकेगी। हृदय में तूफान मच उठा। वह आवेग से उठी। उसने उस पत्र मे, जो उसकी पतली पतली लाल उंगलियों में दबा है लिखा है "अब तुम न आओ प्रसन्न, तुम्हारे आने की आवश्यकता नहीं है!"

"प्रसन्न अब भी उसमें है। संपूर्ण प्रसन्न उसके रोम-रोम मे रम रहा है। मन प्रसन्न में घुल—मिलकर एकाकार हो गया है। चाहकर भी प्रसन्न को मन से दूर नहीं कर सकी है। आनन्दी, आनन्दी न रहकर प्रसन्न हो गई है, पर प्रसन्न हो जाना उसके जीवन की साध नहीं है। आनन्दी बनाकर ही प्रसन्न करे वह प्रसन्न कर सकता है। आनन्दी बनकर रहने में ही उसके जीवन की सार्थकता है। प्रसन्न को आनन्दी चाहिए, प्रसन्न नहीं। प्रसन्न तो वह है ही उसके जीवन का अभाव आनन्दी की प्राप्ति में ही मिट सकता है। उज्ज्वल आनन्दी, उन्नत मस्तक आनन्दी को ही देख प्रसन्न प्रेम से गद्‌गद् हो सकता है। पर आनन्दी वह अब नहीं है। कोरा शरीर ही तो नारी आनन्दी नहीं है। अशरीरिणी नारी जो उसमें है वह तो प्रसन्नमय है। तब शरीरी नारी की भ्रष्टता उसे प्रसन्न से कैसे अलग कर सकती है, पर उसने सोचा अशरीरिणी नारी को प्रसन्न क्या जाने ? वह पवित्र सही, परन्तु यह जो शरीर पाकर चाहे वह विनाशी ही हो उस अशरीरिणी नारी को अपने में रख साकार हो उठा है, तभी नारी समूची नारी हो सकी है। संपूर्ण नारी वही है, प्रसन्न की आनन्दी नारी वही है......।"

वह आवेग से उठी और लिफाफा लेटर बक्स में छोड़ दिया — बैरंग।

श्रीगणेश

"कल प्रातःकाल हम आठ बजे सितारा पहुँच जायेंगे।"

"हां, और कल इस समय तक मेरे भाग्य का फैसला भी हो जावेगा क्यों अंबा जी?"

"भाग्य का फैसला"..........। अंबाजी ने कुछ गम्भीरता और कुछ चिंता से शब्द दोहरा दिये।

सूर्य अस्ताचल के निकट पहुँच गया था। और उसकी सुवर्ण किरणें पास के सरोवर में खिले कमलों से बिदा मांग रही थीं। कमल की पंखुड़ियां इस वियोग की कल्पना मात्र से एक दूसरे के गले पड़कर विरह व्यथा के भार को हल्का करने के उपाय सोचने लगीं।

"अंबाजी! मैंने सुना है कि मेरे विरुद्ध सितारा में दूषित वातावरण उत्पन्न हो गया है।"

"किन्तु छत्रपतिजी कच्चे हृदय के मनुष्य नहीं हैं! महाराज! क्या वह आपके पराक्रम से परिचित नहीं हैं?"

"फिर भी अंबाजी, मानवीय दुर्बलताएं राजा और रंक सभी में होती हैं।"

'हूं' कहकर अंबाजी किसी गहरे विचार में डूब गये।

रक्तवर्ण आकाश तथा तप्त सुवर्णवत् गोलाकार सूर्य की ओर देखते हुवे अंबाजी ने विरक्त भाव से कहा 'देश की दुर्दशा की ओर दुर्लक्ष्य करके यह लोग आपस में मनमुटाव क्यों उत्पन्न कर लेते हैं! क्या स्वार्थ परायणता ही इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य होता है? महाराज! श्रीपतराव ने आपसे बैर बढ़ाकर किस बुद्धिमानी का परिचय दिया, कुछ समझ में नहीं आता।

दाहिने पैर से सरोवर का पानी जोर से उछालते हुवे बाजीराव ने

कहा 'अंबाजी ! मुझे पेशवापद की भूख नहीं है। किन्तु जिस पुण्य पुरुष ने इस स्वराज्य की बेल को लगाया, उसे सींचा तथा आजीवन हरा भरा रखने में अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया, वही बेल आज सूखने को है। पनप कर उसमें फल-फूल लगना तो दूर उसकी जड़ में कीड़ा लग गया है। अगर वह सूख गई अंबाजी ! तो वह पुण्य प्रतापी पुरुष स्वर्ग में भी रो देगा। मेरे भाई ! मेरा जीवन, मेरा यह छोटा सा जीवन, उस बेल की रक्षा में मैं बलिदान कर देना चाहता हूँ। मेरी यही चिर अभिलाषा है' कहते कहते उनका स्वर उत्तेजित हो गया और आंखों में एक अपूर्व आभा प्रज्वलित हो उठी।

अंबाजी के नेत्र सजल हो गये। उन्होंने कहा 'महाराज ! आप न घबराइये। मेरी मनोदेवता मुझे कह रही है कि आप इच्छित अभिलाषाओं को पाने में सफल होंगे।

सूर्य अस्ताचल की ओट हो गया है। पृथ्वी पर पतला अंधकार छा गया। अंधकार की बढ़ती हुई परिस्थितियों को ध्यान में लाकर अंबाजी ने फिर कहा 'अंधकार घना होता जा रहा है। अब हमको चलना चाहिये।'

दोनो अपने अपने शिविर में चले गये।

(२)

परिस्थिति नाजुक थी और दृश्य करुणामय था। अपने स्वर्गीय पेशवा की याद आने से छत्रपति शाहू महाराज की आंखों में आंसू आ गये थे। उन्होंने सजल नेत्रों से बाजीराव की ओर देखते हुवे कंपित स्वर में कहा 'बाजीराव ! बालाजी की स्वराज्य सेवा, उनका पराक्रम, उनका बुद्धि वैभव मेरे हृदय में चिर स्मृति के रूप में विराजमान है। उनकी सेवाओं का मूल्य मैं उन्हें कुछ भी न दे सका। मैं उन्हें देही क्या सकता था बाजीराव, उनकी सेवाएं अमूल्य थीं। ओह कैसा वीर ! कैसा निर्भीक.........! गला भर आया था, वह आगे

न बोल सके।

अल्प समय तक कोई किसी से नहीं बोला। तब अंबाजी पंत ने विनम्र शब्दों में कहा 'महाराज! बाजीराव की भी यही इच्छा है— स्वराज्य सेवा करने की। पिता के बतलाये हुवे मार्ग पर अग्रसर होकर अंतिम ध्येय अपनाना ही वह अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाना चाहते हैं।'

छत्रपति जी ने सानन्द और निष्कपट भाव से कहा 'बड़े हर्ष की बात है। वीर पिता के बहादुर पुत्र की ऐसी इच्छाएं होना स्वाभाविक है। बाजीराव! कहो, तुम क्या चाहते हो?'

अंबाजी पंत ने बाजीराव को बोलने का मौका नहीं दिया। इस सुगंधि का पूरा फायदा वह उठाना चाहते थे। उन्होंने तपाक से कहा 'अपना अधिकार'।

छत्रपतिजी ने सस्मित कहा 'स्वराज्य की सेवा करना प्रत्येक देश-वासी का जन्म सिद्ध अधिकार है।'

उसी तरह आवेग से अंबाजी पंत ने कहा 'यह तो ठीक है, परन्तु महाराज! मेरे कहने का भावार्थ बाजीराव को 'पेशवा पद' मिलने के सम्बन्ध में है।

छत्रपति जी ने गंभीर होकर कहा 'मेरा भी यही विचार है, किन्तु क्या स्वराज्य पर मेरे अकेले ही का अधिकार है। तुमको स्मरण रखना चाहिये अंबाजी! कि, अष्ट प्रधान को सलाह के बिना स्वराज्य का छोटे से छोटा कार्य करना भी अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना है। क्या तुम दोनों यह महसूस नहीं करते कि नियमों का उल्लंघन विनास का श्रीगणेश है?

अंबाजी पंत और बाजीराव दोनों चिंतित होकर जमीन की ओर देखने लगे। छत्रपति जी का दयालु हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने सांत्वना के शब्दों में कहा 'फिर भी तुमको निराश नहीं होना चाहिये।

मेरी हार्दिक इच्छा बाजीराव को ही पेशवा पद देने के पक्ष में है। फिर अष्ट प्रधान की सम्मति लेने की आवश्यकता है।'

अंबाजी पंत और बाजीराव के मुख पर आनन्द की रेखायें उदित हो उठीं। छत्रपति जी ने फिर कहा 'कल तुम दोनों को दरबार में आना चाहिये। वहीं इसका निर्णय होगा।'

(३)

श्रीपतराव प्रतिनिधि स्वयम् पेशवा होना चाहते हैं। बालाजी विश्वनाथ प्रथम पेशवा की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने स्वराज्य में फूट उत्पन्न कर राज्य व्यवस्था में विश्रृंखलता उत्पन्न कर दी थी। और बाजीराव को पेशवा पद प्राप्त न होने देने के लिये बाकी सप्त प्रधानों को उन्होंने मिला लिया था। खास कर आनन्दराव, होनाजी अनन्त, मुग्दल भट्ट उपाध्ये को पूर्णतया श्रीपतराव ने अपने पक्ष में मिला लिया था। आज दरबार में बाजीराव को पेशवा पद देने के सम्बन्ध में यह लोग जोरों का प्रतिकार करेंगे।

यथा समय बाजीराव और अंबाजीपंत पुरन्दरे दरबार में उपस्थित हुवे। उस समय तक छत्रपतिजी नहीं आये थे। सप्त प्रधान थे और राज्य के बड़े बड़े अधिकारी भी उपस्थित थे। अल्प समय पश्चात् छत्र पतिजी पधारे। गंभीरता का आवरण दरबार पर पड़ गया। सभी ने उठ कर मुजरा किया। छत्रपतिजी के सिंहासन पर विराजित होने पर सब फिर आसनस्थ हो गये। एक बार दरबार का पूर्णतया निरीक्षण कर छत्रपतिजी ने कहा 'बालाजी के स्वर्गवास होने पर पेशवा की अनुपस्थिति में आज का दरबार प्रथम है। बालाजी ने अपने जीवन में पेशवा पद का जिस योग्यता से संचालन किया वह आप लोगों से अपरिचित नहीं।'

दरबार में सुई गिरती तो आवाज सुनाई देती, इतनी शान्ति थी।

'बालाजी का स्वर्गवास होने से स्वराज्य की अत्यंत हानि हुई है।

और मेरी अपनी राय है कि इस हानि की पूर्ति बाजीराव को पेशवापद देने से हो सकती है। मैं आप लोगों से स्पष्टतया पूछता हूँ कि बाजीराव को पेशवा पद देने में आपकी क्या राय है? सब को स्पष्टतया अपना मंतव्य देने का अधिकार है।'

दरबार में हलचल मच गई। प्रत्येक एक दूसरे के मुख की ओर देखने लगा। तब समयसूचकता से श्रीपतराव ने कहा 'आज ही इसकी इतनी जल्दी क्यों है? बाजीराव आये हैं, रहेंगे। आगामी दरबार में इसका निर्णय देना ठीक होगा। तब तक हम लोग विचार भी कर लेंगे।

बाजीराव की आंखों के डोरे लाल हो गये। अम्बाजीपंत के क्रोध का पारावार न रहा। वह तड़ाक से कह बैठे 'श्रीपतराव, निर्णय कब दिया जाये या क्या दिया जाये, इस सम्बन्ध में महाराजा राय नहीं पूछ रहे हैं। बाजीराव को पेशवा पद दिया जावे या नहीं, सिर्फ इसी बात पर अपना मंतव्य आपको प्रकट करना चाहिये।'

'चुप रहो अंबाजीपंत!' श्रीपतराव ने कड़ककर कहा। 'तुम बाजीराव की तरफ से बोलनेवाले कौन होते हो? बाजीराव स्वयम् यहां उपस्थित हैं......।'

'और आपको भी जनाब! सबकी ओर से राय देने का क्या अधिकार है जब कि सब सरदार यहाँ उपस्थित हैं। अधिक से अधिक आपको अपनी सम्मति प्रगट करनी चाहिये थी।'

श्रीपतराव चिढ़कर बोले—'पेशवापद प्राप्त करना दिल्लगी नहीं है। न वह बच्चों का खेल है। न वह किसी की बपौती हो सकती है।' फिर वह छत्रपति जी की ओर लक्ष्य करके बोले 'सिर्फ बाजीराव, बालाजी का पुत्र है एतदर्थ उसे पेशवा पद दिया जाता है तो महाराज! यह सरासर अन्याय है!'

गंभीर हृदय छत्रपतिजी ने शान्ति से कहा—'श्रीपतराव यह तुमको

स्मरण रखना चाहिये कि बालाजी उस समय न होते तो स्वराज्य का सुरक्षित रहना असंभव था।'

श्रीपतराव ने शब्दों में नम्रता लाने का प्रयत्न करते हुवे कहा 'महाराज ! मुझे इन बातों से कब इनकार है। मेरे कहने का भावार्थ यह है कि पेशवापद की महत्ता ध्यान में रखकर वह किसी सुयोग्य और सुसंपादनशील व्यक्ति को देना चाहिये। किसी बात पर निर्णय प्रगट करने के पूर्व उसके प्रत्येक पहलू पर विचार कर लेना अत्यंत आवश्यक है। पूर्ण विचार से किया हुआ कार्य सफल कहा जाता है। यही कारण था कि मैंने पेशवापद किसी को देने के पूर्व पूर्ण विचार कर निर्णय देने की राय दी और महाराज बालाजी ने अपने तलवार के बलपर पेशवा पद प्राप्त किया था। उनके पराक्रम पर खुश होकर सरकार ने उनको पेशवापद से सुशोभित किया था। क्या मैं अंबाजीपंत से पूछ सकता हूँ कि बाजीराव ने स्वराज्य की वृद्धि में क्या पराक्रम किये ? क्या अपरिपक्व बुद्धि, तथा संसार के अनुभवों से अपरिचित पुरुष को बिना सोचे समझे पेशवा जैसा पद दे देना सरासर भूल नहीं है ?'

अंबाजीपंत क्रोध से कांप रहे थे। वह उत्तर देना ही चाहते थे कि बाजीराव की आंखों ने उन्हें वैसा करने से रोक दिया और वह स्वयम् खड़े हो गये तथा अपनी तेजस्विनी आँखों से दरबार को भर नजर देखकर बोले 'श्रीपतराव ! तुम्हारा कहना यथार्थ है। पेशवापद प्राप्त करना सचमुच किसी की बपौती नहीं हो सकती है। आज तुमने मेरी आंखें खोल दीं' और फिर म्यान से तलवार निकाल कर छत्रपतिजी के चरणों पर उसे रखकर बोले 'महाराज ! जब तक यह तलवार यह सिद्ध न कर देगी कि मैं पेशवा पद पाने का अधिकारी हूँ, उसे पाने की अनधिकार चेष्टा नहीं करूंगा। महाराज ! इस सेवक की एक विनती और है— जब कभी संकट समय उपस्थित हो, मुझे जरूर सूचित किया जावे। मैं बालाजी का पुत्र—पेशवा पद का उत्तराधिकारी—तनमन धन

सहित उसे निवारणार्थ आपकी सेवा में उपस्थित होऊंगा।'

वह बिना किसी के उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए चले गये।

(४)

आज छत्रपतिजी के मुख पर चिता की रेखायें स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। किसी गहरी चिंता ने उनको पीड़ित कर दिया है। आज उनके सन्मुख मरहठों की इज्जत का प्रश्न है। एक 'हां' पर मरहठों की इज्जत की रक्षा होगी। एक 'ना' पर उनकी उज्ज्वल कीर्ति में कलंक लग जावेगा। वह क्या करें? उनका ऐसा कौन है कि वह 'हां' कह दे, और 'हाँ' कहने के फलस्वरूप सारा उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेले। कौन है वह वीर जो 'हां' की जिम्मेदारी को महसूस करके महरठों की इज्जत की रक्षा करे।' उन्होंने पुकारा 'कौन है!'

एक सेवक सामने उपस्थित हुआ। छत्रपतिजी ने कहा 'जाओ, अभी जाकर श्रीपतराव को भेज दो।'

श्रीपतराव के आने पर छत्रपति जी ने कहा 'निजाम की तरफ से जरूरी खलीता आया है। एक घटे के अनन्तर मैं दरबार में आऊंगा, आप सब सरदारों को बुलालें। खलीता बहुत जरूरी है और उसका जवाब आज जाना ही चाहिये।'

श्रीपतराव ने 'जो आज्ञा' कह कर बिदा ली।

ठीक एक घंटे के पश्चात् छत्रपति शाहू महाराज ने दरबार में पदार्पण किया। दरबार में निस्तब्धता छा गयी। महाराज ने गंभीर होकर कहा 'आज आप लोगों को यहां आने का इसलिये कष्ट दिया गया है कि निजाम-उल्मुल्क ने हमारी मदद चाही है। मरहठों के बाहुबल पर विश्वास रख कर वह दिल्लीपति के आक्रमण से बचने के लिये हमारी सहायता वे चाह रहे हैं। दिल्लीपति की आज्ञा उल्लंघन करने का अभियोग निजाम पर है और शाही फौज उसको दण्ड देने के लिये दिल्ली से चल पड़ी है। निजाम को भरोसा है तो हमारा।

वह हमसे पच्चीस हजार सेना मांग रहा है। आप में से कौन निजाम की सहायता करने जा सकता है? आप लोगों को स्मरण रखना चाहिये कि यह मरहठों की इज्जत का प्रश्न है।'

दरबार में सन्नाटा छा गया। कोई वीर छाती ठोंक कर सम्मुख नहीं आया। छत्रपतिजी ने कुछ देर ठहर कर फिर कहा 'क्या मरहठों का क्षात्र तेज आज लुप्त हो गया? क्या मरहठी साम्राज्य में आज एक भी ऐसा वीर नहीं है जो उनकी उज्ज्वल कीर्ति की रक्षा करने में समर्थ हो सके। बोलो, मेरे वीरो! तुम उन वीर नरपुंगवों की संतान हो जिनके प्रचण्ड प्रताप से आज आपका अस्तित्व शेष है। शरण आने वाले की रक्षा करना तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है, श्रीपतराव! क्या तुम इस भार को उठा सकते हो?

'मैं इससे भी अधिक भार हंसते हंसते उठा सकता हूँ। किन्तु महाराज! पच्चीस हजार फौज हमारे सारे मरहठी साम्राज्य भर में नहीं है। मैं अकेला जाकर क्या कर सकता हूँ?'

'तुम्हारे ज़रा से इशारे पर श्रीपतराव! महाराष्ट्र की शान के प्रीत्यर्थ यहां के नवयुवक हसते हंसते मर मिटेंगे। तुम चाहो तो पच्चीस हजार क्या, चाहे जितनी सेना तुम एकत्रित कर सकते हो।'

"किन्तु उनको देने के लिये वेतन की आवश्यकता होगी और खजाने में तो मिलक इतनी नहीं है।'

'तो मरहठों की इज्जत की रक्षा नहीं हो सकती? निजाम को लिख दिया जाय कि हम तुम्हारी सहायता करने में असमर्थ हैं।'

श्रीपतराव ने अबकी कुछ ऊंचे स्वर में कहा 'महाराज! मरहठों का बल अपरिमित है। आज महाराष्ट्र पर कोई आपत्ति नहीं आई है। किसी की क्या हिम्मत है जो महाराष्ट्र की ओर आंख उठाकर देखले। महाराष्ट्र के वीरों की हुँकार' से सारा भारतवर्ष हिल उठता है। दिल्लीपति ने निजाम पर चढ़ाई की है, महाराष्ट्र पर नहीं। दिल्लीपति

हमारी शक्ति से परिचित है। मेरी समझ में दूसरे के लिये अपने धन जन का विनाश उचित नहीं है। एक बात और भी है निजाम का पक्ष लेने से दिल्लीपति सदा के लिये हमसे नाराज हो जावेंगे। निजाम का पक्ष स्वीकार कर उनसे बैर बसाना ठीक नहीं।'

छत्रपतिजी के मुख पर भाव दृग्गोचर हो गये। उन्होंने सरोष कहा 'राजनीति और राज संचालन खिलवाड़ नहीं है। श्रीपतराव! मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी। तुम्हारे विचार मरहठों की कीर्ति में कलंक लगा देने वाले हैं। निजाम-उल्मुल्क ने अपना समझ कर—हमारी शक्ति का भरोसा जानकर हमें परचारण किया है। अब वह उसकी मुसीबत नहीं, हमारी मुसीबत है। दिल्लीपति ने उस पर चढ़ाई नहीं की है, वरन् हम पर चढ़ाई की है। निजाम हमारा पड़ोसी है, उसकी रक्षा करना हमारा धर्म है। कहो, मैं एक ही उत्तर चाहता हूँ। कौन है वह नरश्रेष्ठ जो निजाम की रक्षा करने का बीड़ा उठाता है।'

दरबार में फिर सन्नाटा छा गया। अल्प समय पश्चात् छत्रपतिजी ने कहा 'क्या महाराष्ट्र वीरों से खाली हो गया। क्या एक भी माई का लाल ऐसा नहीं, जो महाराष्ट्र का नाम अमर कर सके?'

फिर भी किसी ने सन्मुख आने की हिम्मत नहीं की।

'अच्छा, बहुत अच्छा, श्रीपतराव! अभी किसी को भेजकर अंबाजी पंत और बाजीराव को बुलाओ।'

अंबाजी पंत और बाजीराव ने आकर छत्रपति जी को अभिवादन किया। छत्रपति जी ने कहा 'बाजीराव! महाराष्ट्र के लिये तुम क्या कर सकते हो?'

'सब कुछ, हमारा तन मन धन सब महाराष्ट्र पर नौछावर है।'

तो आज उसकी लाज जा रही है..........।

बाजीराव ने बीच ही में उत्तेजित होकर कहा 'महाराष्ट्र की लाज जा रही है! किसकी हिम्मत है महाराष्ट्र की लाज लूटने को। कौन

आंख उठा कर महाराष्ट्र की ओर देख सकता है ? जब तक बाजीराव जीवित है किसी की हिम्मत आक्रमण...........।'

'शान्त, बाजीराव ! महाराष्ट्र पर किसी ने आक्रमण नहीं किया है। दिल्लीपति ने निजाम पर चढ़ाई की है और निजाम हमारी मदद चाहता है।'

'फिर यह कौन बड़ी बात है। महाराज आज्ञा दें तो...... ।'

'किन्तु बाजीराव ! राज्य की ओर से तुम्हें एक पैसा भी न मिलेगा।'

'मुझे आवश्यकता नहीं।'

'राज्य की सेना से एक सिपाही भी न मिलेगा।'

'मुझे उसकी भी आवश्यकता नहीं। मुझे तो यह हर्ष है कि महाराज ने संकट समय में सेवक का स्मरण करने की प्रार्थना स्वीकृत कर ली ! मैं तो महाराज ! आपके लिये और महाराष्ट्र के प्रीत्यर्थ हंसते हंसते अपने प्राणों का बलिदान कर दूंगा।'

छत्रपति की आंखों में आनंद की रेखायें नर्तन कर उठीं। उन्होंने कहा 'शाबाश, बाजीराव ! शाबाश ! श्रीपतराव मैंने बाजीराव को पेशवा बनाया। अभी जाकर इंतजाम करो।'

'नहीं, महाराज ! ठहरिये, मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं जब तक योग्य अधिकारी पेशवा पद पाने का न हो जाऊं उसे ग्रहण न करूंगा। मुझे पेशवा पद से कोई सरोकार नहीं। आगामी कार्य में सफलता प्राप्त करने के हेतु मैं महाराज का शुभाशीर्वाद चाहता हूँ।

छत्रपतिजी ने बाजीराव के मस्तक पर हाथ रखकर कहा 'तथास्तु'।

(५)

आनन्द में विभोर होकर अरुण ने फूल बरसाये तो निसर्ग ने अपनी वीणा में भैरवी का एक राग गाकर वातावरण को सजीव बना दिया। आनन्द की सुखद कल्पना में मस्त होकर ऊषा ने कुंकुम

उंडेला तो भगवान् सूर्यदेव उदयाचल से सिर निकाल जगत की ओर देखकर खिलखिला कर हंस पड़े। चराचर सृष्टि में नवजीवन संचार हो गया। पुष्पों ने उदार हृदय से अपनी मत्त सुगंध से वातावरण को उन्मादित बना दिया। चिड़ियों ने मंगल गान गाये। सारे जगत में आनंद की उन्नत लहरों में होडसी लग गयी। प्रत्येक लहर उस शुभ संवाद को सबसे प्रथम अपने कोमल भावों में व्यक्त करना चाहती थी। उसी शुभ संवाद को सुनने के लिये प्रत्येक मनुष्य आकुल हो उठा।

वह देखो, बाजीराव विजय सम्पादन कर लौटे हैं और छत्रपति श्री शाहू महाराज अपने प्रिय पेशवा के सुपुत्र बाजीराव को पेशवापद का अधिकारी बनाकर रत्नजटित तलवार भेंट कर रहे हैं। बाजीराव आज के शुभ अवसरपर पेशवापद के कार्य का श्रीगणेश करने को उतावले हो रहे हैं।

जगत् इसीलिये तो आनन्दित होकर भक्ति हस्त से फूल बरसा रहा है।

जीवन

सतीश सरपट घर चला आ रहा है । घर आने की आज उसे जल्दी है, थक गया है । चाहा, तांगे में बैठा जाय । सोचा·········पैसे·····? तांगे की ओर सतृष्ण नजर······उतरे मुख-पर फीकी मुस्कान···········।

असंख्य दुःखों को हृदय में छिपाये वह घर चला आ रहा है । मुख पर हृदय स्थित विविध चिन्ताओं का प्रतिबिम्ब पड़कर उसका स्वाभाविक सौंदर्य नष्ट हो चुका है । और रात-दिन चिन्ताओं में मग्न रहते रहते वह कृश भी कितना हो गया है । काश कि वह श्रीमान् होता·········!

घर आया । देखा सुनीता एकटक बालक की ओर देख रही है। बालक अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को कुछ विस्फारित कर देख रहा है । देखता ही जाता है । क्या देखता है ? क्या सोचता है वह······।

"सुनीता !"

"सतीश !"

"तबियत कैसी है ?"

"बुखार बहुत तेज है । मछली जैसा तड़प रहा है ।"

'हूँ ऊं ऊं······ ।' और सतीश ने दिल को हिला देने वाला निश्वास छोड़ा ।

सुनीता ने आँखों में आँसू भरकर कहा "डॉक्टर को ले आओ !"

"डॉक्टर ! पगली, डॉक्टर श्रीमानों के यहां जाते हैं । गरीबों के यहां नहीं । पेट को कसकर भी तो हम उन्हें दो रुपये नहीं दे सकेंगे । फिर बड़े डॉक्टर को तो ५) रुपये देने होंगे······।"

"फिर जीवन······?"

"जीवन······।" सतीश ने अपने में जाना कि वह कितना

असहाय है। उसने कहा "सुनीता! गरीबों को विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। सुनीता मेरे साथ विवाह करके तुम्हारा जीवन......।"

"मेरा जीवन.........?"

"कितना दुखमय हो गया है! काश कि तुम श्रीमान् की पत्नी होतीं। तुम्हारा जीवन .....।"

"हां, मेरा जीवन......?"

"सुखी होता।"

सुनीता ने जैसे आहत होकर कहा "तुम्हें आज हो क्या गया है? तुम "स्त्री हृदय" को नहीं समझ पाते सतीश......।"

"मैं? सुनीता मैं स्त्री-हृदय को नहीं समझ पाता। यह एक ही रही। मेरी भोली सुनीता, मेरी कहानियों में तुम जैसे कितनी ही "सुनीता" निवास कर रही हैं। क्या वह स्त्री-हृदय का चित्रण नहीं?"

"है क्यों नहीं सतीश, पर पूर्ण स्त्री रूप को आजतक—आदि से आज तक कोई भी कलाकार कागज पर अंकित नहीं कर पाया। भगवान्, व्यास भी तो असमर्थ रहे। स्त्री आज भी समस्या बनी हुई है।"

सतीश का पुरुष हृदय जागा। पर इसी समय बालक कराहा। दोनों उधर देखने लगे। सतीश ने बालक के मस्तक पर हाथ रखा। पिता के स्नेह-मय हस्त का स्पर्श पाकर बालक के कोमल, आरक्त होठों पर मन्द मुस्कान खिल पड़ी और वह सतीश की ओर देखने लगा। सतीश ने उसके मन की भावना पहिचान कर कहा "जीवन......।"

बालक की आंखों में प्रेम और करुणा उमड़ पड़ी। उसने अपने दोनों हाथ सतीश की ओर फैला दिये। सुनीता ने आनन्द-विभोर हो कहा—"देखा, दरिद्री की संतान कितनी समझदार होती है सतीश, नहीं तो एक वर्ष के बालक में इतनी समझ कहां?

"चुप चुप सुनीता, बीमार बालक की तारीफ किया नहीं करते, समझी! मेरा जीवन......।"

सुनीता ने बालक को चूमकर कहा "हमारा जीवन।"

(२)

सतीश की कलम चल रही है। मस्तिष्क में उठने वाले विचारों, भावनाओं को कागज पर अंकित करने का प्रयत्न कर रही हैं उसकी उंगलियाँ। कलम को नचा कर वह कागज पर सतीश के मन के भाव लिख रही हैं। और सतीश ? सतीश इस समय स्वयम् को भूल गया है। सुनीता, जीवन, शत्रु-मित्र आँफिस दुख-दारिद्र सारे के सारे जैसे उसकी दुनिया से कूच कर गये हैं। सतीश है कि बस लिखता चला जा रहा है। हृदय हिलोरें ले रहा है, प्रतिभा प्रसूत हो रही है, कला का जन्म हो रहा है। कोई देखे सतीश को इस समय, अनुपम शान्ति से उसका मुख आलोकित हो उठा है-योग-साधन के समय ऋषीमुख पर विराजित जैसी शान्ति। साधना और सतीश कला का जन्म और शान्ति-सतीश के जीवन में यही तो वह समय है जब वह स्वयम् को भूलकर चैतन्य मय सत्य के निकट पहुंचता है।

सुनीता कब आकर उसके सामने खड़ी है सतीश नहीं जानता। सुनीता एकटक पति के मुख की ओर देख रही है। पति की तन्मयावस्था देख आत्म-विस्मृत वह खड़ी की खड़ी रह गई। कितनी ही देरतक वह खड़ी रही, खड़ी ही रही। पति को अपने में बसा वह स्वयम् को भूल चली। अनन्त जन्मों की तपश्चर्या का फल मानों उसने सतीश के रूप में पाया है। सतीश की विशालता में अपनी क्षुद्रता मिला वह स्वयम् मिट जाना चाहती है।

सतीश अपने में सम्हल, होश में आ, कुछ सोचने के लिए दोनों हथेलियों पर दोनों गाल टिका, कोहनी को टेबिल का सहारा दे सामने देखने लगा। सुनीता को देख जैसे जाग उठा। "कौन सुनीता ? अब तक तुम घर का काम ही कर रही थीं ? सुनीता, तुम्हें मेरी दरिद्रता प्रतिक्षण खलती होगी, काश कि तुम्हारा विवाह किसी श्रीमान् से होता

........" सतीश अपने अभाव को महसूस कर रहा था।

सुनीता अपने में जाग, अपने प्रति पति का अविश्वास पा, आहत हृदय के विस्फोट को दबा एक उसांस छोड़ बोली—"काश की तुम नारी को समझ पाते सतीश !"

वही सुबहवाली बात सुन सतीश तिलमिला उठा, बोला "कुछ क्षण पूर्व नारी के सम्बन्ध में ही लिख रहा था। और यह भी हो सकता है सुनीता मैंने नारी को संपूर्ण न समझा हो, फिर भी पूर्णत्व की जो परिभाषा है उसके निकट जरूर हूँ। सुनो सुनीता मैंने लिखा है:—

"स्त्री एक ऐसी शक्ति है जिसके बिना मनुष्य एक पग भी आगे बढ़ने में असमर्थ है। जीवन में जो सत्य, शिव और सुन्दर है वह सब स्त्री की ही सृष्टि है। सत्यमय माता के रूप में, शिवमय पत्नी में, सुन्दरमय कन्या के रूप में जब वह हमारे सम्मुख उपस्थित होती है तब स्त्री का वह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् रूप देख हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।"

विजयिनी शक्ति को अपनी आंखों में फैला सतीश सुनीता की ओर देखने लगा। और सुनीता को लगा जैसे स्त्री को त्याग की मूर्ति बना देवी की प्रतिभा समझ, सतीश ने 'स्त्री' को गलत जाना है। वह सतीश की आँखों में अपनी आँखें उलझा, बोली—"पर सतीश, तुम स्त्री को मनुष्य क्यों नहीं समझते, उसमें देवत्व की कल्पनाकर उसे अपने सत्य मनुष्य रूप से क्यों दूर ले जाते हो। देवत्व के उन तीनों रूपों में चलने के लिए उसे बाध्य किया जाता है। उसे इस रूप में चलना ही है, न चलना उसके बस की बात नहीं और पुरुष उसके 'देवत्व' को गिरा देखना नहीं चाहता। स्त्री के सम्बन्ध में 'देवत्व' की जो कोमल कल्पनाएं उसने की हैं वह टूट न जायं इसीलिए वह चिन्तित हो जाता है। इसी 'देवत्व' के बोझ को उठा नारी चल रही है। चलती ही जा रही है। अपने अभावों का अनुभव कर, नारी में अविश्वास की कल्पना कर

वह इसी देवत्व की दुहाई देने लग जाता है। नारी, माता हो, पत्नी हो, पुत्री हो जब द्वंद्व को लेकर चलती है तब अनेक विषम परिस्थितियां बनती और मिटती जाती हैं। द्वंद्व की असीमता में नारी एक समस्या बन जाती है और पुरुष बौखला उठता है।

इसी समय 'जीवन' कराहा। सुनीता दौड़कर उसके निकट पहुँची। सतीश मन्द गति से 'जीवन' के निकट पहुँच रहा था।

(३)

जीवन सम्हल नहीं रहा है। सुनीता और सतीश उसकी बढ़ती बीमारी देख अधिक चिन्तित हैं। सतीश सारी रात जागा है। मस्तिष्क सुन्न हो रहा है, आंखें लाल हैं। थक गया है। सोना चाहता है, पर जीवन के लिए अस्पताल जाकर दवा लानी ही होगी। उठा, वह अस्पताल गया। डॉक्टर उसे जानता था। बोला 'आइए सतीश बाबू, कहिए बालक की अवस्था कैसी है?'

"अभी कुछ आराम नहीं हो पाया।"

'ऐसा ·······' और डॉक्टर महोदय दवा के परचे बनाने में संलग्न हो गये। सतीश चुप बैठ गया।

डॉक्टर ने सतीश की ओर देख कहा 'इस वक्त उसकी हालत क्या है?'

सतीश ने सारी हालत कह दी और कम्पित स्वर में बोला "आप जरा उसे देखलें"।

'ओह सॉरी मिस्टर सतीश, मैं इस वक्त ड्यूटी पर हूँ। तुम्हारे साथ नहीं चल सकूँगा। हाँ शाम को समय मिला तो आने की कोशिश जरूर करूंगा।"

सभ्यता ने रोका सतीश चुप रहा। दवा ली और घर आया। आते ही सुनीता ने एक सांस में कह दिया "डॉक्टर नहीं आये···।"

आंखों में आंसू भरकर सतीश कह सका 'नहीं······।'

सुनीता बोलही रही थी 'यदि एक बार वह आ जाते तो······।'

और सतीश का पुरुषत्व जागा। क्या वह दो रुपये नहीं ला सकेगा! जीवन का वह पिता जो है। जूता पहिनकर वह जा रहा था। सुनीता ने कहा 'कहाँ जा रहे हो?'

सुनीता को आंखों में समेट सतीश सड़क पर आ गया। कितनी ही गलियों में से गुजर कर वह एक बड़े मकान में घुसा। नौकर से कहा—"जाओ मालिक से बोलो सतीश आया है।"

नौकर ने जाकर कहा तो मालिक स्वयम् ही उठ कर बाहर आ गये। "ओह कौन! आओ भाई आज किधर भूल पड़े!"

सतीश ने जाना वह क्षुद्र है। यह भी क्या उसका व्यक्तित्व है कि वह पांच रुपये के लिए अपना आत्मसम्मान खोकर किसी के सम्मुख हाथ पसारे। वह अपने में तिलमिला कर रह गया। चेहरे पर पीड़ा की रेखाएं खिंच गईं। कान्ति मलिन हो गई।

मालिक ने आदरपूर्वक कहा 'खड़े क्यों हो सतीश, आओ अन्दर आओ।'

सतीश स्वयम् को सम्हाले अन्दर गया। चाहा उसने वह अपना आत्मसम्मान नहीं खोएगा।

दोनों अन्दर के कमरे में आकर बैठ गये। चाय मंगवाई गई, जलपान आया। दोनों मित्रों ने साथ बैठकर खाया, पीया। सतीश चुप था। उसकी दरिद्रता अभिशाप बन कर उसके सम्मुख उपस्थित थी। उसे चुप देख हरीश ने कहा—'सतीश आज तुम उदास क्यों हो भाई? तुम्हें क्या तकलीफ है?'

अपने को छिपा, कातर दृष्टि से देख सतीश ने कहा "यूँही चला आया था भाई!"

छिपा सकने की अवस्था को पहिचान मित्र ने कहा "सतीश मैं, जानता हूँ तुम में अभिमान की मात्रा अधिक है।"

अपने को पहिचाना जाना मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है। सतीश ने कह दिया "हरीश, सच बात यह है कि मेरा 'जीवन' अत्यधिक बीमार है। दवा के लिए पैसों की आवश्यकता है।"

"कितने रुपयों की जरूरत है। सतीश मेरा धन मित्रों के ही काम न आया तो मेरा होना नहीं के बराबर है।"

मित्र-स्नेह में डूब सतीश ने कातर स्वर में कहा "सिर्फ ५) रुपयों की आवश्यकता है।"

हरीश ने ५), रुपये का नोट सतीश के हाथ में दिया। सतीश ने आंखों से कृतज्ञता बखेरते हुए कहा, "हरीश......।"

कृतज्ञता का बोझ उठाने में असमर्थ हरी ने उसके मुख पर हाथ रख दिया—"इसकी जरूरत नहीं है सतीश।"

उपकार के बोझ से दबे हृदय को ले सतीश लौटा। हरीश ने पुकारा 'सतीश' और उसकी आंखें चमकीं।

सतीश, हरीश के सामने आ गया। और हरीश धारा प्रवाह बोलने लगा। "सतीश अभी बैठो तुम से मुझे काम है। सतीश बैठा। हरीश कह रहा था "यह तो तुम जानते ही हो सतीश कि प्रत्येक मनुष्य में अपनी एक कमजोरी होती है। अपना एक स्वार्थ होता है। मुझ में भी एक दुर्बलता है। मैं नाम का भूखा हूँ। नाम के पीछे मैं धन को पानी जैसा बहा देता हूँ। तुम जानते हो सतीश, मैंने लेखक बनने की कितनी कोशिश की, पर मैं सफल न हो सका। मैं यह स्वीकार करता हूँ। प्रतिभा किसी के बांटे की चीज नहीं है। और तुम्हारी प्रतिभा से मैं कितना प्रभावित होता हूँ यह तुम नहीं जानते, डरो नहीं सतीश मैं तुम्हारी प्रतिभा का शत्रु नहीं हूँ। मैं उसकी इज्जत करता हूँ। श्रीमान् महाराजा साहब ने वर्षगांठ के शुभ अवसर पर ग्रामोद्धार पर लिखी पुस्तक पर पुरस्कार देने की घोषणा की है। मैं जानता हूँ तुमने उक्त विषय पर पुस्तक लिखी है। मेरे व्यक्तित्व के बल पर सम्भव

है पुस्तक पुरस्कृत हो। अतएव तुम अपनी वह पुस्तक मुझे देदो। चौंको नहीं सतीश मैं तुम्हें बदले में पुरस्कार की रकम से १००) अधिक देने को तैयार हूँ। मुझे रुपये की परवाह नहीं मैं नाम का भूखा हूँ। तुम पैसे को चाहते हो।'

सतीश को लगा जैसे सारे जगत की घृणा उसके छोटे से हृदय में सिमट कर रह गई है। कुछ कहने के प्रथम उसका ध्यान हाथ में पकड़े ५) के नोट की ओर गया। उसने जाना जैसे उसके अन्दर जो कुछ चैतन्य है वह सब इस नोट में समा रहा है। और सतीश कोरा सतीश रहा जा रहा है। अपने को खोकर सतीश कोरे सतीश को लेकर क्या चाटेगा !!

उसने टेबिल पर नोट फेंक दिया और आवेग से कमरे से बाहर हो गया। हरीश चिल्लाया 'सतीश-सतीश.........।'

(४)

घर में प्रवेश करते ही, सतीश ने अपने को जाना, परिस्थिति को समझा। एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। सुनीता बगलवाले कमरे में जीवन के पास बैठी है। चिन्तित, परिस्थिति की भयानकता में उलझी। सुलझना वह जानती नहीं।

सतीश उस कमरे में न जा सका। अपौरुष वह उस कमरे में कैसे जा सकेगा। सुनीता के सामने दीन वह न जायेगा। पराक्रम से उन्नत-मस्तक वह रहना चाहता है। नारी और पुरुष को दूर दूर करने वाली जो रेखा हो सकती है, शायद यही है वह !

अपने कमरे में जा वह टूटी आराम कुर्सी पर सुन्न पड़ा रहा। पुत्र के प्रति कर्तव्य और हृदय के प्रति अन्याय का कैसा भयानक संघर्ष चल पड़ा है।

सतीश का मौन सुनीता को खला। क्या वह कोई नहीं है। क्या वह सतीश के लिये कुछ न कर सकेगी। उठी वह सतीश के सम्मुख

जा खड़ी हुई। सतीश ने सुनीता को देखा। आवेग से उठा वह, ग्रामोद्धार की हस्त लिखित कॉपी उठाई। दरवाजे की ओर बढ़ा। सुनीता ने कहा "सतीश...।"

सतीश चला जा रहा था।

"मुझे गलत न समझो, सतीश बताओ तुम कहां जा रहे हो?"

"अपनी सजीव संतान के लिए हृदय-जनित संतान का क्रय-विक्रय करने।"

"मैं समझी नहीं सतीश, तुम्हें हो क्या गया है?"

"सतीश की आंखें छलछला उठीं।"

समझी वह, पिता के हृदय में अपने पुत्र के लिए संघर्ष चल पड़ा है। पुरुष के हृदय में भी द्वंद्व हैं, उसमें भी बलिदान हो जाने की भावनाएं हैं अपने में समझ वह सतीश की ओर देखती ही रही।

सतीश चल पड़ा... ।

सुनीता ने पुकारा "सतीश"

सतीश लौटा। आंखों में आंसू भरे। मुखपर अनन्त पीड़ा बसाये।

"तुम रो रहे हो सतीश......।"

"सुनीता, मैं अकर्मण्य हूँ। अपने पुत्र के लिए आज ५ रुपये खर्च नहीं कर सकता। फिर भी मैं उसका पिता हूँ। अपनी यह प्यारी संतान उस सजीव 'जीवन' पर नौछावर कर दूंगा। तुम नहीं जानती सुनीता कि मैं अपनी रचनाओं को कितना प्यार करता हूँ। मैं उन रचनाओं को लेखक की हृदय-जनित संतान कहकर पुकारता हूँ। हरीश इस किताब के ६००) दे रहा है और अपने नाम से इसे पुरस्कार के लिए भेज देगा। हरीश ने कहा था सुनीता, मैं......मैं पैसा चाहता हूँ। सच है, सच ही तो है मैं पैसा चाहता हूँ पैसा......!" एक भयानक मुस्कान सतीश के मुख पर दौड़ गई।

सतीश चला। सुनीता देखती रही। बालक कराहा। सतीश उस

कमरे की ओर मुड़ा । सुनीता दौड़ी उस कमरे में पहुँची । सतीश ने किताब नीचे रख बालक को उठा लिया "जीवन घबराओ नहीं, तुम्हें आज बड़े डाक्टर को दिखाऊंगा । जीवन तुम क्या जानो बेटा तुम्हारा पिता कितना असहाय है !"

सुनीता को 'जीवन' दे, चाहा तो सतीश ने, वह हरीश से रुपये ले आये । पर बालक रो दिया । सतीश की गोद से वह उतरना नहीं चाहता । तीन बार सतीश ने जीवन को सुनीता को देना चाहा, पर तभी वह रो देता । सुनीता ने कहा "जीवन चाहता है कि तुम अभी न जाओ, तो न जाओ सतीश ।"

और उसी रात पसीना आकर 'जीवन' का बुखार उतर गया । उसे नींद लगी । सतीश और सुनीता के आनन्द का ठिकाना न रहा । अब सतीश अपनी हृदय-जनित संतान न बेचेगा ।

"आज ही तो वह शुभ दिवस है सतीश......।"

"हां, और आजही मेरे भाग्य का निर्माण भी मुझे तो कोई आशा नहीं दीखती । महाराजा साहब के पास कितने ही ख्यातनामा लेखकों की किताबें आई होंगी । फिर मैं......" जयपराजय के द्वंद्व में, अविश्वास में डूब सतीश ने कहा ।

"पर ईश्वर तो गरीबों का ही सहायक होता है सतीश, गरीब की पुकार उसे बरबस मृत्युलोक में खींच लाती है । और सतीश हमारे महाराजा साहब की न्याय-प्रियता मशहूर है । मेरा तो विश्वास है कि पुरस्कार-निर्णय में न्याय से काम लिया जायगा ।"

इसी समय चपरासी ने सतीश के नाम की चिट्ठी उसके हाथ में देदी ।

सरकारी लिफाफा टाइप किया हुआ देख आनन्द के आवेग में स्वयम् को भूल सतीश चिल्लाया 'सुनीता...... ।'

'सतीश ।'

पत्र पढ़कर सतीश ने कहा 'सुनीता मेरी पुस्तक पुरस्कृत हो गई। पुरस्कार की रकम के अतिरिक्त १००) विशेष इनाम भी महाराजा साहब ने प्रदान किया है। सुनीता कहीं मैं पागल न हो जाऊँ ?'

सुनीता आनन्द-विभोर हो बोली "सतीश हमारा जीवन......।"

"हां, हां सुनीता, हमारे जीवन को इस नन्हें 'जीवन' ने सुखमय बनाया। वह गोद से उतर जाता, मैं किताब हरीश को दे देता। जीवन, जीवन......।" और उसने जीवन के गोरे व आरक्त गाल को चूम लिया।

सुनीता ने कहा "हमारा जीवन......।"

सतीश ने कहा "हमारा जीवन......।"

आनंद में मस्त सुनीता बोली "आनन्द और सुखमय"

"सुनीता......"

"सतीश......"

"आओ प्यारे अपने महाराजा के लिए भगवान से प्रार्थना करें।"

दोनों ने श्रीकृष्ण के चित्र की ओर देख हाथ जोड़ कहा—"भगवन् हमारे महाराजा का जीवन आनंद और सुखमय हो, वह चिरायु हो।" दोनों का मस्तक झुका।

और जीवन खिलखलाकर हंस पड़ा।

मानों उसने भी अपने माता पिता की मंगल कामनाओं में सहयोग दिया हो।

'वेश्या'

(१)

संध्या का समय था। दो मित्र शहर से दूर एकान्त में नदी के किनारे शिला-खंड पर बैठे थे। नदी एक स्वर से गा रही थी। उसके मधुर कलकल-निनाद में दोनों एकाग्र हो रहे थे। कुछ समय पश्चात् एक ने शांति-भंग करते हुए कहा—"मानवी जीवन में आनन्द, सुख, उत्साह, उल्लास का निर्मल स्रोत स्त्रियों ने बहाया है। यही कारण है कि नारियों का 'यत्र नार्मस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता' कह कर गौरव किया जाता है। उपनिषदों ने भी कहा है 'ब्रह्म पुरुष है तो स्त्री आदिमाया, पुरुष शिव है तो स्त्री पार्वती, पुरुष विष्णु है तो स्त्री लक्ष्मी। पुरुष गौरव है तो स्त्री कीर्ति, सुप्रसिद्ध मराठे नाटककार श्रीमदकरी ने कहा है कि 'पुरुष परमात्मा की कीर्ति है और स्त्री परमात्मा की मूर्ति"।

"किन्तु भाई, प्रत्यक्ष में तो यह अंतर्लोक की एक मनोरम कल्पना के समान है। स्त्री-सुलभ लज्जा को तिलांजलि देकर, पुण्य तथा पावनता की हत्या कर, गौरव तथा सम्मान को पैरों तले कुचलकर एक स्त्री को जिस समय हम समाज के वक्षःस्थल पर तांडव-नृत्य करते हुए देखते हैं तब हृदय आकुल हो उठता है। विलासिता, कामुकता, निर्लज्जता का वह नंगानाच देख मस्तक क्रोध में बावला हो जाता है। नारीत्व की वह विडंबना हृदय को रुला देती है।"—दूसरे मित्र ने कहा।

"तुमने अभी स्त्री हृदय की परख नहीं की है भाई। मैं समझ गया कि तुम्हारा दृष्टिकोण वेश्याओं पर है। वेश्या! बड़ी उलझनमय समस्या है। जिसका हल करना मामूली सी बात नहीं हैं। वेश्या से समाज में पाप का प्रचार है या समाज के पाप को वेश्या ही ढकती है। इस पर हम कब विचार करते हैं। वेश्या एक निष्पाप स्त्री का यह पाप-

मय चिर-परिवर्तन सभ्य-समाज के पाप का फल है। सभ्य-समाज की काली करतूतों का अंतिम परिणाम वेश्या है। वेश्या कहकर उसका तिरस्कार करने से प्रथम उसके जीवन की करुण-कहानी जानना आवश्यक है। आज अनंत में विराम पाई हुई उसकी जीवन-गाथा उसके हृदय में अब भी उसी अवस्था में आपको मिलेगी। जिस पापमय घटना ने उसका पवित्र-जीवन, उसकी अनंत आशाएँ, उसका पुण्यमय सम्मान, उसका गौरवमय स्त्रीत्व, कुचल दिया है। उसको वह कभी भूलेगी नहीं। भूल भी नहीं सकती। वाह्य में हँस हँस कर, अपने मोहक अभिनय से समाज को लुभाने वाला वह स्त्री-हृदय जिस समय एकान्त पाता है प्राप्त परिस्थिति, पापमय कृत्य पर पछताता है। पश्चाताप उसे हर घड़ी रुलाता है। प्रत्येक वेश्या के जीवन में ऐसी घटनाएँ छिपी हैं। उन्हें जानना हमारा कर्तव्य है।"—पहले ने कहा।

"मैं इन विचारों से सहमत नहीं हूँ। कवियों की कल्पनाओं की बात निराली है सत्य सृष्टि निराली है। अनुमान से ऐसे विचार इससे भी अधिक सुन्दर अपने सम्मुख रखे जा सकते हैं। वेश्या एक ऐसी भयानक प्रथा है। जिससे समाज शनैः शनैः पतन की ओर जा रहा है। जब तक इस प्रथा का पूर्णरूपेण प्रतिकार नहीं होगा। समाज का उद्धार होना कठिन है।"—दूसरे ने ज़ोर देकर कहा।

"साथ ही इस प्रथा का उत्पादक कौन है? इस पर भी तो विचार करना आवश्यक है। भाई मधुसूदन वेश्या के हृदय जानने के लिए किसी वेश्या से प्रेम करना आवश्यक है।" इतना कहकर अविनाश ने हँस दिया।

"वेश्या के हृदय की परख तो तुमने की है। अनुमान किया जा सकता है कि तुम किसी वेश्या के नयन-वाणों के शिकारी हो। उसके प्रेम के भिखारी हो।"—मधुसूदन ने हंसकर कहा।

'किन्तु किसी के साथ सहानुभूति दिखाने से तो वह उसका प्रेमी

नहीं कहा जा सकता ।' अविनाश ने हँस कर कहा ।

'अनुभूति, सहानुभूति, दया वह प्रेम-पथ की सीढ़ियाँ हैं जो प्रेम के द्वार तक मनुष्य को पहुँचा देती हैं ।' मधुसूदन ने बलपूर्वक कहा ।

'तो क्या तुम पर किसी वेश्या का जादू नहीं चल सकता ?'

'हरगिज नहीं । मेरा हृदय इतना परिपक्व है कि उस पर असर होना अशक्य है ।'

'ठीक है । चलो रात बहुत बीत चुकी । असर न होना ही ठीक है । मानवता उसी में है किन्तु इस प्रकार गर्व भरी बातें परमात्मा को नहीं भातीं ।'

(२)

गर्मी की छुट्टियाँ थी । गर्मी में प्रवास करना लाभदायक होता है । किन्तु घर रहकर आलस में दिन बिताना भी तो अत्यंत कष्टप्रद होता है । परीक्षा हो जाती है तब कोई विशेष धंधा भी नहीं होता । अविनाश और मधुसूदन धनिक पुत्र थे, पैसों की कमी नहीं थी । दोनों ने विचार किया कि चलो गुजरात देख आयें । माता, पिता ने सहर्ष सम्मति दे दी । दोनों बड़ौदा आकर ठहरे थे । उपरोक्त घटना के ४ दिवस बाद एक रोज रात के १ बजे दोनों मित्रों में संवाद हो रहा था :—

'अविनाश'

'मधुसूदन!'

'एक बात कहूँ तुम मेरा तिरस्कार तो न करोगे ?'

'नहीं, मैं तुमको अत्यंत पवित्र दृष्टि से देखता हूँ ।'

'इसीलिए मैं तुमसे भय खाता हूँ; नहीं......नहीं शरमाता हूँ ।'

'क्या बात है ?'

'अपने होटल के सामने एक सेठजी रहते हैं उनकी लड़की का विवाह है ।'

'हाँ' है।

'उन्होंने एक वेश्या बुलाई है। और वह इसी होटल के नीचे के कमरे में ठहरी है।'

'हाँ'

'वह अत्यन्त सुन्दरी है। इतना सुन्दर स्त्री-रत्न इस पापी जगत् में कैसे अवतीर्ण हुआ कुछ समझ में नहीं आता। मैं सच कहता हूँ अविनाश वह अनुपम सुन्दरी है। इतना ही नहीं वरन मैं उसके मुख पर पवित्रता का, पावनता का आभास पाता हूँ। वेदना की एक करुणा-झलक उसके मुख पर झलकती है।'

'मधुसूदन तुम्हारे हृदय में अनुभूति उत्पन्न हो गई है।'

'इतना ही नहीं अविनाश मैं इस गति से उसका उद्धार करना चाहता हूँ।'—आवेग में मधुसूदन ने कहा।

'सहानुभूति तथा दया से तुम्हारा हृदय परिपूरित हो गया है।'—अविनाश ने गंभीरता से कहा।

'हाँ-हाँ, अविनाश चाहे जो हो। मैं इस गति से उसका उद्धार करूँगा।'

—मधुसूदन के प्रत्येक शब्द में उत्तेजना थी।

'मधुसूदन, अनुभूति, सहानुभूति, दया की सीढ़ियाँ पार कर प्रेम के द्वार तक तुम आ पहुँचे हो।'—अविनाश ने उसी गंभीरता से कहा।

'अविनाश तुम उस दिन की याद दिलाकर मेरा उपहास कर रहे हो। मेरे मित्र तुम्हारे कहने के अनुसार मैं वेश्या के हृदय को जानना चाहता हूँ।'

'वेश्या का हृदय जानना पाप नहीं है। उसका उद्धार करना पाप नहीं है। पापमय गर्त से उसे ऊँची उठाना पाप नहीं है। किन्तु उस पर अपने हृदय का बलिदान कर देना, उसके विकारमय प्रेम पर सर्वस्व

अर्पण कर देना, विलासिता के लिए अपने पुण्यमय विचारों की हत्या करना पाप है। क्षणिक सुख के लिए पुण्य की मिश्री को लुटा देना दुर्बलता है।'

एक दीर्घनिस्वास छोड़कर मधुसूदन ने कहा 'अपने हृदय पर मेरा विश्वास है। मैं उसके प्रेम जाल में नहीं फँसूँगा।'

'हाँ, यही होना चाहिए'—अविनाश के मुख पर एक विचित्र हँसी उस दिन हो उठी, मधुसूदन उसे न देख सके। उनके नेत्र अब यहाँ कब थे!

(३)

मधुसूदन में अत्यन्त परिवर्तन हो गया। अविनाश के साथ अब वह शहर देखने नहीं जाते। संध्या समय टहलने नहीं जाते। पहले की भाँति हँस हँस कर बातें नहीं करते। अविनाश इस परिवर्तन से समझ गये कि मधुसूदन के हृदय में एक विकार उत्पन्न हो गया है। जिसका अंतिम परिणाम अत्यंत भयानक हो सकता है। किन्तु वह शांत होकर योग्य समय की बाट जोह रहे थे।

संध्या का समय था। अविनाश शहर देखने चले गये थे। मधुसूदन होटल के बाग में एक मेज़ पर बैठे विचार कर रहे थे। अल्प समय पश्चात् उन्होंने देखा कि वही वेश्या उनकी तरफ आ रही है।

मधुसूदन का हृदय धड़कने लगा। सारा शरीर कंपित हो गया। मुख पर श्रम बिन्दु चमकने लगे। वह आकर मधुसूदन के पास बेंच पर बैठ गई। मधुसूदन भयभीत हो गये। उनके हृदय में एक आशंका उत्पन्न हुई कि 'कोई देखेगा तो क्या कहेगा?' शंका कुशंका के प्रबल युद्ध से वह घबड़ा गये। उन्होंने सोचा यहाँ से चल देना चाहिए। वह उठना ही चाहते थे कि वेश्या ने कहा "महाशय आपको तकलीफ़ होती हो तो मैं चली जाऊँ?"

मधुसूदन ने अस्वस्थता से कहा 'नहीं नहीं आप बैठ सकती हैं।

मुझे कुछ काम है इसलिए जा रहा हूँ।'

वेश्या ने कहा 'क्या बहुत जरूरी काम है ?'

हाँ······हाँ······नहीं······नहीं······ऐसा कुछ जरूरी काम तो नहीं। वैसा ही कुछ···

'तो क्या आप पाँच मिनिट भी नहीं बैठ सकते' करुणा भरे शब्दों में उसने कहा। इन शब्दों का मधुसूदन अनादर न कर सके उन्होंने जाने का विचार छोड़ दिया।

'आप का निवास स्थान कहाँ है ?' उसने शुद्ध हिन्दी में कहा।

'ग्वालियर' मधुसूदन ने कहा।

'सुना है। ग्वालियर गाने का घर है।'

'हाँ वहाँ संगीत का वरदान है। अच्छे अच्छे गवइये वहाँ रहते हैं। सुविख्यात गवइये तानसेन का मकबरा भी वहीं है।'

'मुझे एक वक्त ग्वालियर आकर वहाँ के कला के चमत्कार को देखना है।'

'जरूर आइयेगा।'

'आप भी गाते होंगे।'

'हाँ, थोड़ा सा गा लेता हूँ।'

'एक रोज हमारे कान भी पवित्र कीजियेगा। यहाँ आने पर मैंने आपको देखा तो समझ गई कि आप ग्वालियर के होंगे।'

'मधुसूदन ने हँसकर कहा यह तुमने कैसे जाना ?'

'पहिनावा, बोलने-चालने की रीति से मनुष्य पहिचानने में आ जाता है। तिस पर हम वेश्या हैं। २-३ दिन से चाह रही थी कि आप लोगों से भेट करूँ किन्तु समय नहीं मिला। वह दूसरे कौन हैं ?'

'मेरे मित्र हैं।'

'आज शुभ घड़ी समझनी चाहिए जो आप से भेंट हुई। किन्तु अब मुझे जाना चाहिए ८ बजे सेठ जी के यहाँ गाने के लिए जाना

है। अच्छा विदा।' वह उठ खड़ी हुई।

'क्या मैं यह पूछने का अपराध करूँ कि आप का शुभ नाम क्या है?'

'हाँ मैं भी बात-चीत में आप का शुभ-नाम पूछना भूल गई। क्षमा कीजियेगा। प्रथम आप अपने शुभ नाम से परिचित कराइये।'

'मुझे मधुसूदनराय कहते हैं'

'माधवीलता हूँ' एक मोहक हास्य उसके मुख पर उदित हो गया। मधुसूदन ने कहा 'अब कब मिलियेगा'।

"मैं रोज हवा खोरी को आती हूँ। कल भी आऊँगी। आपके गाने के प्रोग्राम की आयोजना कल ही की जावेगी।" एक गूढ हँसी हँस कर वह चली गई।

मधुसूदन भी मंद गति से अपने कमरे में चले गये।

दिन प्रति दिन माधवीलता से मधुसूदन की घनिष्टता बढ़ती ही गई। अविनाश ने सोचा अब यहाँ अधिक रहना घातक है। उसने मधुसूदन से कहा 'मधू, अब हमको चलना चाहिए'।

"अविनाश तुम्हें जाना हो तुम जा सकते हो। 'माधवीलता' को छोड़ कर जाना मेरे लिये असंभव है।"

"अपना विचार स्पष्टतया प्रकट क्यों नहीं कर देते? तुमने उसके बारे में क्या सोचा है?"

"मेरा विचार उससे विवाह करके समाज के संमुख एक नया आदर्श उपस्थित करने का है'

"क्या तुम्हारे पिता सम्मति देवेंगे? माता जी क्या कहेंगी? इस पर भी विचार किया है?"

"मैं पवित्र पथ का, पथिक हूँ। पथ पर अग्रसर हो चुका हूँ। मुझे पथ-भ्रष्ट करने की किसी में शक्ति नहीं। मैं निश्चित कर चुका हूँ कि मैं माधवीलता से ही विवाह करूँगा।"

"मधुसूदन ! बुरा न मानना उस दिन तो तुम 'वेश्या' के नाम से ही घृणा करते थे। और आज उसी घृणित वस्तु पर अपना हृदय, अपना सर्वस्व अर्पण कर रहे हो। यह क्षणिक आवेग, यह क्षणिक उत्तेजन ठीक नहीं संभव है भविष्य में तुम्हें पछताना पड़े।"

"जब तक मुझे अनुभव न था। मेरे विचार वैसे ही थे। होना भी असंभव नहीं। किन्तु आज प्रत्यक्ष में देख रहा हूँ कि वेश्या के भी हृदय होता है। उसके हृदय में भी पवित्र-प्रेम की बंसी बजती है। स्त्री-सुलभ लज्जा भी उसमें होती है।"

"भाई मधुसूदन। माधवीलता के विकारमय प्रेम ने तुम पर अपना अधिकार कर लिया है। सोचो मैं फिर कहता हूँ कि प्रत्येक कार्य करते समय उसके अंग-प्रत्यंग पर विचार करना अवश्यम्यभावी है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि कार्य पूर्ण सोच-विचार कर करे। मधू, माधवीलता तुम्हें प्यार करती है!"

'हाँ'

'यह कैसे जाना?'

"वह रोज मुझे गाने का आग्रह करती है। मैं जब गाता हूँ वह सुध बुध भूल जाती है। तन्मयता से मुझे एकटक देखती रहती है। और उस समय उसके मुख पर एक अपूर्व आभा आलोकित हो उठती है। जब गान समाप्त हो जाता है एक दीर्घनिश्वास छोड़कर वह कंपित स्वर से कहती है। 'मधुसूदन तुम मानष नहीं, देव हो' किन्तु जब मैं प्रेम के संबंध में अल्प संकेत करता हूँ। वह हँस देती है उस हँसी में मैं करुणा के मुरझाये हुए फूलों का अनुभव करता हूँ। वह चुप हो जाती है।"

"तो क्या तुम इस बर्ताव से समझ रहे हो कि वह तुम को प्यार करती है। मधुसूदन उस हँसी में रहस्य है। उस करुणा में करुण कहानी छिपी होनी चाहिए। देखो आज तुम उसके सम्मुख अपना

हृदय रख दो साथ ही विवाह के संबंध में भी बात चीत पक्की कर लो।"

"हाँ मेरा भी यही विचार है।"

अविनाश ने हँस दिया। मधुसूदन ने कहा—'बड़े नटखट हो अविनाश।'

(५)

"सेठ जी के यहाँ से विदा भी मिल चुकी है। अब हम यहाँ से परसो चले जावेंगे" माधवी लता ने कहा।

"मुझे भी अविनाश कूच करने का रोज संकेत देते हैं। किन्तु यहाँ से जाने का मेरा जी नहीं चाहता।"—मधुसूदन ने कहा।

"हाँ यहाँ की रौनक अच्छी है। यहाँ के सभी मनुष्य प्रेमी हैं।"

"यह तो ठीक है किन्तु मेरे न जाने का कारण और ही है।" मधुसूदन की आँखों में उत्तेजना नाच उठी।

माधवी लता ने विषय बदलते हुए कहा। "क्या आज गाना नहीं गाओगे? तंबोरा ले आऊं"

'नहीं मेरा जी आज गाने को नहीं चाहता। माधवी! आज मैं गाने का प्रतिदान माँगने आया हूँ तुमसे।'

माधवीलता चुप हो गई।

"माधवी आज स्पष्ट कहता हूँ कि मैं तुम पर प्रेम करता हूँ। क्या तुम मुझ पर प्रेम नहीं करती?" माधवीलता ने गंभीरता से शांति-पूर्वक कहा—"इस प्रश्न का प्रति उत्तर चाहते हो तो उसका एक ही उत्तर है कि तुम यहाँ से चले जाओ। मधुसूदन मैं वह शमा हूँ कि तुम जैसे कितने ही परवाने मेरी ज्योति से जलकर भस्म हो गये हैं। संसार से अभी तुम अपरिचित हो निरे अबोध हो। तुम्हारा कल्याण इसी में है कि तुम यहाँ से चले जाओ।"

"माधवीलता!" मधुसूदन ने संतप्त होकर कहा, 'तुम तो मुझे

उपदेश देने लगी। मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी। मैं तुमको एक निराली दृष्टि से देखता था।"

"और मैं भी तुम्हें एक निराली दृष्टि से देखती थी। उस दिन बाग में एक पवित्र आशा लेकर तुमसे मिलने आई थी। किन्तु मेरा अनुमान चूक गया। तुम्हारे अंतरंग को जानकर मैं दुखी हूँ। तुममें तथा समाज के और लोगों में कोई फर्क नहीं। तुम जैसे कितने ही पुरुष मेरे यहाँ आते हैं और चले जाते हैं। उनमें से ही एक तुम निकले। और यही कारण है कि मैंने अपना रहस्य तुमसे छिपाने का विचार कर लिया है। मैं अपना रहस्य तुम पर प्रगट नहीं करूँगी।"

इन शब्दों ने मानों आग में घी का काम किया। मधुसूदन और भी संतप्त हो गये। उनका मुख तमतमा उठा। उन्होंने कहा, "इस नरक में रहकर तुम्हारी वृत्तियाँ भी नारकीय बन गई हैं। अश्लीलता के संसर्ग से तुम्हारी भावनाएँ भी अश्लील बन गई हैं। पाप के सहवास से तुम्हारा हृदय भी पापी बन गया है। तुम्हें भले बुरे की, पाप पुण्य की, सत् असत् की पहिचान हो ही नहीं सकती।"

माधवीलता ने भी बाघिनी की भाँति गरज कर कहा "मुझे नरक में किसने ढकेला? तुम जैसे सभ्य दीखने वाले नर पशुओं ने। मुझे अश्लील बातों से किसने परिचित कराया? तुम जैसे सफेद पोश नार-कीय कीड़ों ने, मेरे सिर पर पाप का बोझ किसने रखा? तुम जैसे पापी पशुओं ने···।

"बस माधवीलता बहुत हो चुका। मुझमें ऐसी बातें सुनने की क्षमता नहीं है। मेरा भी अनुभव चूक गया। और अविनाश भी वेश्या के हृदय से अपरिचित है। वेश्या वेश्या ही रहेगी। उसका उद्धार करने का विचार करना भूल है—कवि की कल्पना है। ठीक है। माधवीलता मैं जाता हूँ किन्तु इतना जरूर कहूँगा कि तुम एक सफल वेश्या हो।" मधुसूदन तेजी से जाने लगे।

माधवीलता के आँखों में आँसू आ गये। मधुसूदन के कोट का एक छोर पकड़ कर उसने कहा 'मधुसूदन नाराज न हो' मैं तुम्हारी कौन हूँ जो इस प्रकार ताने सुनाऊँ, किन्तु···मैं क्या करूँ! जब से मैंने तुमको देखा है। मेरे हृदय में क्रांति मच रही है। पूर्व जीवन की मधुर-स्मृतियाँ जागृत हो उठी हैं। मधुसूदन, मैं पुण्य के पवित्र प्रांगण में रहने वाली विधवा थी, मैं अपने पुण्यमय विचारों सहित अनंत की ओर अग्रसर हो रही थी। पुण्यमय कल्पनाएँ, पवित्र भावनाएँ मेरी जीवन सहचरी बन जाने से मैं अमोल शान्ति का अनुभव कर रही थी।"

मधुसूदन ने आश्चर्य से कहा "तो क्या तुम विधवा से वेश्या बनी हो?"

"हां मधुसूदन! तुमने मुझे नहीं पहचाना मैंने तुम्हें पहिचान लिया। और तभी से मेरे हृदय में आग सी जल रही है संभव है कि मैं पागल हो जाऊँगी। गत काल में मेरे हृदय पर इतने आघात हुए हैं कि वह अब बिलकुल जर्जर हो चुका है। अब उसमें अल्प चोट सहने की भी शक्ति नहीं।"

मधुसूदन ने शान्त होकर कहा "माधवी तुम कौन हो?"

उसने पागल की भाँति हँसकर कहा "वेश्या······नारी जाति का अमिट कलंक।" कुछ शान्त हो कर उसने फिर कहा "मैं सत्य कहती हूँ परमेश्वर को साक्षी करके सत्य कहती हूँ मधुसूदन वेश्या-वृत्ति में रहकर भी मैंने अपने गत जीवन को कभी नहीं भुलाया। पश्चाताप की अग्नि रात दिन जला करती है, किन्तु पापी पेट के लिए तो यह घृणित कर्म करना अनिवार्य था। समाज समझता है कि वेश्याएँ सुखी होती हैं। नहीं नहीं वेश्याएँ कभी सुखी नहीं होतीं। उनको कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती। कितने ही नर-पशुओं की लालसाएँ इच्छा न होने पर भी हमें तृप्त करनी पड़ती हैं। लड़ाई-झगड़े, खून-खच्चर प्रतिदिन हमारे यहाँ होते रहते हैं। कितने ही गुण्डे ·····।"

बीच ही में मधुसूदन ने कहा 'न, न, न, मैं आगे नहीं सुन सकता।

माधवी प्रथम यह बताओ कि तुम हो कौन ?"

'मधुसूदन तुम्हारा और मेरा शैशव एक जगह बीता है।'

'कहाँ पर' ?

'झाँसी में' ?

'क्या तुम सरला हो' ?

'हाँ मधुसूदन !'

'तुम्हारी ऐसी अवस्था किसने की ?'

"तुम्हारे पिता झाँसी छोड़ देने के अनंतर ग्वालियर रहने लगे। बाद में माताजी को एक बूढ़े ने फुसला कर—धन की लालच बतला कर मेरे साथ विवाह करने की इच्छा प्रगट की। माता जी ने भी उसके बहकाने में आकर मेरा विवाह उसके साथ कर दिया।"

"हां, हमने ग्वालियर में सुना था। फिर क्या हुआ।"

"अल्प समय पश्चात् पति देव स्वर्ग सिधार गये। मेरे लिये संसार अंधकारमय हो गया, जीवन का वह लंबा मार्ग अब विधवा के नाते तय करना था। उस मार्ग में काँटे थे यह मैं जानती थी। वह मार्ग कठिन है कटंका कीर्ण है। यह भी मैं जानती थी। किन्तु फिर भी धैर्य के साथ मार्ग अतिक्रमण करने लगी। अपने हृदय में मैंने विचार किया कि यौवन के ५, १० साल शांति की साथ धैर्य से बिताने पर शेष पथ सुगम हो जावेगा। किन्तु मेरे भाग्य में तो नरक बदा था तुम जिस घर में रहते थे उसमें एक नवयुवक अपनी माता को लेकर रहने लगा वह अत्यंत सुन्दर था। मोहक बातें, लंबा कद, हृष्ट पुष्ट शरीर। मेरा मन आकर्षित होने लगा। हम दोनों में प्रेम हो गया। मैं अपना सर्वस्व गवाँ बैठी। मुझे गर्भ रह गया। मैंने एक रोज उससे कहा मेरे गर्भ रह गया है अब क्या करना चाहिए तुम मुझसे पुनर्विवाह कर लो।

"हाँ हाँ आज-कल कहकर बात टालता रहा। इसके कुछ समय पश्चात् एक दिन वह बिना किसी से कुछ कहे सुने अपनी माता को

लेकर न जाने कहाँ चला गया। मैंने जब उसे घर में नहीं देखा मेरे पैरों तले की जमीन खिसक गई। मैं फूट फूट कर रोने लगी। रोने के अतिरिक्त रहा ही क्या था।

"मैंने माता जी से सारा हाल कह सुनाया, सुनकर वह अवाक् रह गई। और उसकी बूढ़ी आत्मा यह चोट न सह सकने के कारण २ महीने में ही स्वर्ग सिधार गई। और मैं इस कोलाहल मय जगत में अकेली रह गई। जिसके पास मैं आश्रय को गई उसी ने मेरे साथ पशु-तुल्य व्यवहार किया। विधवाश्रम अनाथालय जहाँ जहाँ गई धोका खाया। तथा कुछ काल व्यतीत होने पर एक ब्राह्मण-कुल की पवित्र कन्या कहीं सुयोग्य आश्रय न मिलने के कारण वेश्या में परिणित हो गई मधुसूदन यह है मेरी जीवन की कहानी। कहो इसमें मेरा दोष है या समाज का, बूढ़ा मेरे साथ विवाह न करता या समाज उसे रोकता। वह युवक धैर्य के साथ मुझसे पुनर्विवाह करता तथा समाज मेरा अपराध क्षमा करके मुझे अपनाता तो क्या मेरा यह अधःपतन संभव था ?"

"गत जीवन को भूल जाओ माधवी ! नहीं नहीं सरला। मैं आज भी तुमसे विवाह करने को तैयार हूँ। पत्नीतुल्य व्यवहार करने पर प्रसन्न हूँ"

"विवाह !" एक भीषण हँसी उसके मुख पर नर्तन करने लगी "विवाह आर्य जाति का पवित्रबंधन ! नहीं नहीं, मेरे हृदय में पाप पुण्य विचार सुविचार, लालसा विलास, सुख दुःख सब जलकर भस्म होगये हैं। वाह्यांग व अंतरंग कलंकित हो गया है, उसे धोना चाहती हूँ। मेरे हृदयमें पश्चाताप की भीषण अग्नि जल रही है उसे शांत करना चाहती हूँ। मधुसूदन मेरे उद्धार का मार्ग बताओ !!"

"विवाह करना न हो तो तुम मेरे पास रहो। मैं तुम्हारा उद्धार करने में तन मन धन खर्च करूँगा।"

"दुनिया दुरंगी है मधुसूदन। सभ्य समाज अपनी आँखों यह नहीं

देख सकता । फिर आँखों की ओट चाहे जो हो ।"

"मैं समाज की परवा नहीं करूँगा ।" दृढ़ता से मधुसूदन ने कहा "ठीक है । आज की रात विचार कर लेने दो ।"

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों मित्रों ने सुना कि सुप्रसिद्ध गायिका माधवीलता कल रात में भाग गई । अविनाश ने कहा 'मधु, माधवी कहाँ चली गई । मधुसूदन ने सारा वृत्तांत कह सुनाया । अविनाश ने कहा "तो क्या वह आत्महत्या करेगी ?" मधुसूदन ने कहा "कुछ समझ में नहीं आता ।"

४ बजे शाम को डाकिया मधुसूदन के नाम का एक पत्र लेकर आया । मधुसूदन ने उसे खोला और पढ़ा । वह माधवीलता का था ।

भाई मधुसूदन !

सादर प्रणाम !

सहवास से विकार उत्पन्न होते है । और विकार पतन की ओर ले जाते हैं । मैं जा रही हूँ । कहाँ जा रही हूँ, क्या करूँगी इसका निश्चय नहीं । माधवीलता को भूल जाना । सरला बहन के नाते कभी कभी याद कर लिया करना । अधिक समय नहीं ।

वंदेमातरम्

तुम्हारी पतिता बहन

सरला

(६)

अब भी जब मधुसूदन यह पत्र पढ़ते हैं । दो अश्रुबिन्दु उनकी आँखों से ढुलक पड़ते हैं ।

समस्या

शाम हो चली थी । वह अपनी छतपर आरामकुर्सी पर लेटे लेटे आराम करने की चेष्टा कर रहा था। सामने जो सड़क है उसपर मनुष्यों का खूब आवागमन रहता है । वह कौतूहल से इन आने जाने वालों की ओर देख रहा है । कितने ही मनुष्य उसके दृष्टि पथ से गुजर गये । प्रत्येक मनुष्य के प्रति आज उसे सहानुभूति हो गयी है । वह सोच रहा है —'प्रत्येक मनुष्य अपना स्वतंत्र इतिहास है और ये जो मनुष्य हैं इनके जीवन का अध्ययन करने पर क्या ये मनुष्य सिद्ध होंगे ? ये सबके सब मनुष्यता से कितनी दूर हैं ? परन्तु प्रत्येक मनुष्य होनेका दम भरता है; वह समझता है कि मेरी जो क्रियाएँ हैं वे मनुष्य की ही नहीं, उससे जो ऊँचा देव है उसकी हैं । मानव जब मानवता से ऊँचा उठना चाहता है—देव बनना चाहता है, तब वह मानवता से च्युत हो जाता है । मानवके प्रति कर्तव्यको जो सरल धारा है उसकी आवश्यकता को वह अनुभव नहीं करता, और मानवता की उपेक्षा ही तो पतन है ।

शान्ति प्राप्त करने बैठा था वह पर उलझ गया दार्शनिकता में । उसने अनुभव किया, उसका सिर भारी हो गया है और कुछ थकावट-सी मालूम हो रही है । वह उठा और अपने अध्ययन के कमरे की ओर चल पड़ा । उसने एक मोटी-सी किताब निकाली और पढ़ने बैठ गया । जी नहीं लगा, उसे रख दिया । फिर उसे याद आया कि एक मित्रके पुत्रको मेडिकल के कोर्स की पुस्तकें देनी हैं । आजसे दस वर्ष पूर्व वह भी तो इन्हीं पुस्तकों का अध्ययन करके सर्जन बना था । कोने में रखी हुई उस छोटी-सी अलमारी में दस वर्ष पूर्वसे वे समाधिस्थ हैं । इन्हीं किताबों मे तो उसके जीवन के अतीत का एक सत्य सुप्त है । उनमें से एक मोटी-सी किताब निकाल कर वह उसे देखने लगा अचानक उसमें

से एक फोटो खिसक कर उसके पाँव पर आ गिरा। उसने उसे उत्सुकता से उठा लिया। उसे देखते ही उत्सुकता-भरी आँखों में अब करुणा और पीड़ा का सामञ्जस्य हो गया; हृदय आन्दोलित हो गया और अतीत की सारी घटनाएँ उसके सम्मुख ज्योंकी त्यों उपस्थित हो गयीं। वह सोचने लगा 'मनुष्यका जीवन असफल आकांक्षाओं का प्रत्यक्ष इतिहास है। पीड़ा और वियोग में ही मानव जीवन की रूपरेखा अङ्कित है। अभिलाषाओं की पूर्ति ही मानवता का विस्मरण है। क्या वियोग और अतृप्त कामनाएँ ही मानवता-के प्रति सजगता उत्पन्न करती हैं? ओह प्रतिमा, तुम्हारे दस वर्ष के वियोग के बाद मैंने मानवता का आज दूसरी बार अनुभव किया। तुम्हारे वियोग के अनन्तर मैं कितने ही दिनों तक मानव बना रहा, परन्तु कालचक्र के प्रबल प्रवाह के आवेग में अदृढ़ कर्तव्य के निर्बल बन्धनों में बँधी हुई मेरी मानवता अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी और मैं मानवता से दूर चला गया। प्रतिमा, आज मै अनुभव करता हूँ कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करता था। प्रेम तो मानवता की खरी कसौटी है। मैं कसौटीपर खोटा पड़ गया। तुम्हारे प्रेम का विस्मरण मानवता की हत्या थी और तुम्हारा प्रतिक्षण स्मरण मानवता की अमरता। मैं तुम्हें भूला, तुम्हारे प्रेम को भूला, अपने उन दावों को भूला जिन्हें प्रतिक्षण तुम पर जतलाता रहता था, और उन शपथों को भी, जिन्हें तुम से प्रेम करने की सत्यता को सत्य सिद्ध करने के लिए मै प्रतिक्षण लेता रहता था, भूल कर मैं जगत के प्रवाह मे बह गया। काश आज तुम देखती होतीं तो मेरे सुखी जीवन को देख कर क्या तुम आनन्दित होती? आनन्दित होतीं या विद्वेष से जल उठतीं? दोनों मानव के मनोव्यापार की स्वाभाविक धाराएँ हैं। तुम किसे अपनातीं?

आज सारी रात उसे नींद नहीं आयी। प्रतिमा ही उसकी आँखों में घूम रही थी। दस वर्ष पूर्व की एक घटना के स्मरण मात्र से ही

वह एकदम उद्वेलित हो उठा। उसे स्मरण हो आया कि एक दिवस जब वह प्रतिमा के घर गया था तब वह अकेली ही घर में थी। वे दोनों बातों में घुलमिल गये थे। प्रतिमा असाधारण सुन्दरी थी। गुलाबी ब्लाउज और गुलाबी साड़ी में उसका सौन्दर्य और भी खिलपड़ा था। गुलाब के फूल की पँखुड़ियों के ढेर-सी वह लग रही थी। उसकी सुगन्ध की मस्ती में कब वह बेसुध हुआ, कब विकारों ने मानवता पर परदा डाल दिया, कब आँखों में उन्माद नाचने लगा, इसे वह न जान सका और प्रतिमा की ओर बढ़कर उसका मुख चूम लिया। प्रतिमाने अपना सारा बल एकत्र कर उसे दूर ढकेल दिया था और चिल्ला कर 'नीच, पापी, राक्षस, कुलाङ्गार कहा था। क्रोध के कारण उसका शरीर थर-थर काँप रहा था।

अब उसकी समझमें आया कि उसकी मानवता मर चुकी है और प्रतिमा की मानवता अत्यन्त सजग हो उठी है। वह चुपचाप चला आया था सड़क पर। बार-बार मुड़कर देख रहा था प्रतिमा की आँखों से चिनगारियाँ बरस रही थीं।

दूसरे दिन प्रतिमा प्रातःकाल ही उसके घर गयी थी। वह अभी अपने बिस्तर पर पड़ा रातकी घटना पर पाश्चात्ताप कर रहा था। वह क्रोधित भी हो रहा था कि क्यों उसने मानवता को तिलाञ्जलि दे दी थी और जब उसने प्रतिमा को सम्मुख पाया तो उठकर बैठ गया था। उसने देखा कि प्रतिमा का तेजस्वी मुख म्लान हो गया है। प्रतीत हो रहा था उसके हृदय में तीव्र व्यथा, एक महान पीड़ा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। उसने कातर और कम्पित स्वर में कहा था—प्रमोद बाबू तुम मेडिकल कालेजके विद्यार्थी हो न? 'हाँ' और विस्मित होकर वह उसकी ओर देखने लगा था।

उसने स्थिर दृष्टि से देखकर कहा था 'एक काम है, क्या तुम उसे कर सकोगे?'

उसने जैसे प्रतिमा पर बलिदान हो जाने ही भावना में उन्मत्त हो कर कहा था—'सहर्ष, तुम्हारे लिए मैं अपने प्राण तक होम सकता हूँ प्रतिमा ।'

'मेरा आपरेशन कर दो' और उसकी आँखों में अनन्त पीड़ा नाच उठी थी।

'आपरेशन ? आपरेशन ? कहाँ ? किस जगह प्रतिमा ?'

अपनी पतली, कोमल, आरक्त नाखून वाली गोरी उँगली गालपर रखकर उसने कहा था 'यहाँ, इस जगह, इस गालपर । आह ! अत्यन्त पीड़ा हो रही है प्रमोद बाबू ? नसें तन गयी हैं, खूनका दौरा बहुत जोर से जारी हो गया है। देखो प्रमोद बाबू रोग अत्यन्त भयानक है। प्राणान्तक पीड़ा हो रही है। जब तक इस कलङ्कित गाल को निकाल कर नहीं फेंक दूँगी मुझे चैन नहीं आयेगा।' और उसका मुख दुःख से विवर्ण हो उठा था।

तब उसने नतमस्तक होकर कहा था 'बस करो प्रतिमा, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ, मुझे क्षमा प्रदान करो।

उसने जैसे आहत होकर कहा था 'मुझे क्षमा देने का क्या अधिकार है प्रमोद बाबू ? मेरे हृदय में नारीत्वकी जो भावना जाग्रत हैं तुमने उसका अपमान किया है। उसका स्वभाव क्षमा देने का नहीं है। क्षमा की छत्रच्छाया में अपराध पनपते हैं प्रमोद बाबू ! स्त्री सब कुछ सह सकती है पर स्त्रीत्व का अपमान नहीं सह सकती।'

उसने कहा था 'अब अधिक लज्जित न करो प्रतिमा और वह उसके चरणों की ओर जैसे झुक गया था।

गरम रक्त की दो तीन बूँदें जब उसके मस्तकपर गिर गयीं तो वह आश्चर्य चकित हो प्रतिमा की ओर देखने लगा था। उसने देखा टेबिल पर रखा हुआ चाकू प्रतिमा ने अपने गाल पर जोर से मार लिया था और उसमें से रक्त बहने लगा था और वह जोर से चिल्ला

पड़ा था 'हाय प्रतिमा तुम कितनी भावुक हो ?'

सारी रात बीत गयी, परन्तु प्रतिमा की प्रतिमा उसकी आँखों से ओझल नहीं हुई। दस वर्ष पूर्व की घटनाएँ आज की प्रतीत होने लगीं। वह उन सारी घटनाओं को भूलना चाहता था—पर भूल नहीं सकता था ।

प्रातःकाल आठ बज गये हैं फिर भी वह अपने बिस्तर पर पड़ा सोच रहा है। उसने सुना बाहर शोरगुल हो रहा है। वह उठकर बाहर जाना ही चाहता था कि दो भद्र पुरुषों ने कमरे में प्रवेश किया। नमस्कार की रस्म पूरी होने के बाद एक मनुष्य ने कहा 'डाक्टर, साहब मैं तो लुट गया ।'

'क्यों भाई, क्या हुआ ?' सहानुभूति से प्रमोद बाबू ने कहा ।

'छोटे भाई का खून हो गया।' वह रोने लगा।

'किसने किया ? प्रमोद ने उत्सुकता से पूछा।

'दोनो एक जगह नौकरी माँगने गये थे। दोनों साथ साथ गये थे, हँसते हुए मित्र की भाँति। लौटकर आते समय उसने मेरे भाई का बेरहमी से खून कर दिया।' और वह जैसे चीख पड़ा। दूसरे सज्जन ने कहा 'आप शव की जाँच करके सर्टिफिकेट देने की कृपा करें।'

प्रमोद कुछ नहीं बोला। कपड़े पहिन कर पोस्टमार्टम रूम में चल दिया। खून बड़ी बेरहमीसे किया गया था। एक बार प्रमोद भी इस अमानुषिक कार्य को देख स्तम्भित रह गया। और वह उन दोनों की ओर झुककर बोला 'ठीक है, आप दोपहर को आकर सर्टिफिकेट ले जाइयेगा। तब-तक मैं इसकी जाँच कर लूँगा।'

प्रमोद अभी पोस्टमार्टम रूम से लौटा है। वह सोच नहीं पाता था कि आखिर किस लिए यह खून किया गया और खून करते समय क्या वह मानव था ? 'मानवता......और क्या उस दिन......आज से दस वर्ष पूर्व प्रतिमा का चुम्बन लेते समय मेरी मानवता जीवित थी ?

क्या मैंने अपने स्वार्थ के पीछे उसके नारीत्व का खून नहीं किया था?' और इसी समय एक पतली गोरी उँगली और रक्त से लथपथ एक गाल उसकी आँखों में घूम गया। हृदय आन्दोलित हो उठा। इसी समय उसने सुना 'डॉक्टर साहब !' देखा एक स्त्री मन्द गति से उसकी ओर आ रही है। उस स्त्री ने हाथ जोड़कर कहा 'डाक्टर साहब, मैं आपसे भीख माँगने आयी हूँ, और मैं यह जानती हूँ कि भीख माँगने आनेवाले को द्वारपर ही रुक जाना चाहिये, यही उसकी मर्यादा है। यह जो मैंने अमर्यादित अतिक्रम किया है, मैं सविनय उसकी क्षमा चाहती हूँ।

प्रमोद निर्निमेष उसकी ओर देख रहा था। उसने देखा आगन्तुक स्त्री के गाल पर एक घाव का निशान है। निशान त्रिकोण के आकार का है। वह बारी बारी से उस स्त्री के हाथ की उँगली और गाल की ओर देखने लगा।

वह स्त्री कह रही थी—'डाक्टर साहब, आप विश्वास रखिये मैं पागल नहीं हूँ, पर अपने पति की मृत्यु की कल्पना से घबरा जरूर गयी हूँ। डाक्टर साहब, मैं अञ्चल पसार कर अपने पति के प्राणों की भीख आपसे माँगने आयी हूँ।' और उसने अञ्चल पसार दिया।

प्रमोद फिर भी उसकी ओर देखता ही रहा, मानो उसने कुछ सुना ही नहीं, समझा ही नहीं।

स्त्री ने देखा डाक्टर प्रमोद उसके गालपर जो घाव का निशान है उसकी ओर देख रहा है। एक क्षण में उसकी आँखों में महान् पीड़ा छलक पड़ी, मुख पर वेदना के भाव स्पष्ट हो गये। इसी समय प्रमोदने कहा 'तुम्हारा यह घाव...।'

और जैसे उस स्त्री के हृदय के तार ढीले हो गये। उसने मन्द स्वर में कहा 'यह घाव...अब उसका चिह्न ही शेष रहा है डाक्टर साहब ! चाहती तो यह थी कि यह घाव जीवन-यात्रा के अन्तपर्यन्त

'हरा'—'ताजा' रहे पर 'प्रकृति' ने साथ नहीं दिया, फिर भी मेरे हृदय में जो घाव है वह आज भी हरा है—ताजा है। यह स्मृति-चिन्ह है 'नारी-हृदय' न समझनेवाले...।'

प्रमोद चिल्ला पड़ा 'बस, बस करो प्रतिमा...।'

अपनी वेदना को चुपचाप पी गयी प्रतिमा और बोली 'तो डाक्टर मैं विश्वास करूँ ? मेरे पति के प्राण......बताओ डाक्टर, पिता की सारी सम्पत्ति एम० ए० पास करने में खर्च कर देने पर जब तीन साल से नौकरी नहीं लगी और अन्तिम तीन दिवस जब हमने भूखे हा—बिना खाये ही निकाल दिये और जब नौकरी देनेवाले साहब ने अपने किसी मनुष्य को अयोग्य होते हुए भी चुन लिया और उन्हें तिरस्कृत कर दिया तब उन्होंने जो कुछ किया क्या वह मानवोचित नहीं है ?'

प्रमोदने देखा प्रतिमा की आँखों में आँसू हैं और वह समझ नहीं पाता था कि क्या जवाब दे, फिर भी उसने कहा 'दो घण्टे मुझे अपने कर्तव्य के प्रति—मानवता के कर्तव्य के प्रति—सोच लेने दो प्रतिमा।'

प्रतिमा चुपचाप चली गयी।

प्रमोद सोचने लगा 'कैसा अचानक योग है। कल इसका फोटो देखा था, आज यह स्वयम् उपस्थित है। ओह ! दस वर्ष में ही कितना अन्तर हो गया है ! जो प्रतिमा रूप की रानी थी वही दरिद्रता के होमकुंड में अपने रूप-गुण की आहुति देकर हड्डियों का ढाँचा रह गयी है ! किन्तु अब मेरा कर्तव्य क्या है ? यह प्रेम का प्रतिदान माँगती है और उसका परिणाम कर्तव्य से च्युत होना है, सत्य को—अपनी पवित्र आत्मा को—धोखा देना है। यह तो नितान्त सत्य है कि इसके पति ने खून किया है। सत्य समर्थन ही मानवता है। और कोई समय होता—और कोई बात होती तो मैं इसके लिए मर मिटता, नौकरी पर लात मार देता, किन्तु सत्य की हत्या ! नहीं-नहीं, यह प्रमाद से न होगा। तो क्या मैं प्रतिमा से

सच्चे हृदय से प्रेम नहीं करता था ? क्या अपनी प्रेमिका के लिए त्याग करना मानवता नहीं है ? क्या मैं जीवन में उसके लिए कुछ त्याग न कर सकूँगा ?...और वह प्रतिमा पति के प्रेम में उन्मादित आज अपनी वास्तविक मानवता भूल गयी है। वासना की उन्मत्तता में मानवता को भूलकर उसका चुम्बन लेने पर मुझे मानवता के प्रति सजग करनेवाली प्रतिमा आज स्वयम् पति प्रेम में अन्धी होकर मुझे अमानुष बना रही है।'

कितनी ही देर तक वह सोचता रहा। अल्प समय पश्चात् एक विचारने उसका मुख आलोकित कर दिया। वह सहास मुख उठा और पास की तिजोरी खोलकर उसमें से २५ हजार के नोट निकाले और मेजपर रख दिये तथा एक सर्टिफिकेट लिखकर रख दिया। दो घण्टे पश्चात् प्रतिमा आयी। प्रमोद ने शान्त भावसे सर्टिफिकेट प्रतिमा के हाथ में दे दिया। प्रतिमा ने उसे पढ़ा। भय, क्रोध, निराशा, पीड़ा, करुणा एक बार ही उसकी आँखों में नर्तन कर उठे। प्रमोद जमीन की ओर देखता हुआ बोला—'प्रतिमा, क्षमा करो ! मैं अपनी आत्मा को धोका न दे सका। मैं जानता हूँ तुम्हें इससे अत्यधिक दुःख होगा और मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि तुमने एक मनुष्य के प्राण बचाकर एक स्त्री को सुहाग प्रदान कर पुण्य लूटने का आदेश दिया था; दूसरे शब्दों में मानवता से उँचा उठने—देव बनने की ओर सङ्केत किया था; पर मैं तो मानव बनना चाहता हूँ—साधारण मानव। नाराज न हो प्रतिमा देवी, ये २५ हजार के नोट तुम्हे आजीवन आजीविका के लिए पर्याप्त होंगे—'

प्रतिमाने चिल्लाकर कहा—'बस-बस प्रमोद बाबू ! मैं सब समझ गयी। मैं तुम्हारी मानवता का अभिनन्दन करती हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करती हूं कि वह तुम्हारी मानवता की दिनों दिन उन्नति करे। पर प्रमोद बाबू , मैं तुमसे पूछती हूँ कि 'प्रेम में उन्मादित होकर तुमने

एक नारी की पवित्रता का जिस दिन नाश किया था। उस दिन क्या तुम मानव थे ? उस दिन भी तुम्हें प्रेम का दावा था । और आज कर्तव्यका, सत्य का दावा है; किन्तु तुम नहीं जानते प्रमोद बाबू, इस सत्य के, कर्तव्यके उन्मादमें तुमने एक नारी के जीवन का नाश किया है। तुम्हारे दोनों बार के उन्माद ने मानवता की कितनी रक्षा की है यही एक समस्या है। एक दिवस था जब तुमने कहा था —छाती पर हाथ रखकर कहा था कि 'प्रतिमा, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, प्रेम के लिए प्राण तक होम दिये जाते हैं, फिर प्रेम की वेदी में कर्तव्य की—सत्य की बलि दे देना साधारण-सी बात है। यही प्रेम की कसौटी है—मानवता भी यही है। और प्रमोद बाबू, ये २५ हजार के नोट—? सो इनके सम्बन्ध में हजारों वर्ष पूर्व एक नारी कह गयी है 'येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम' । अच्छा नमस्ते—।' और वह द्रुत गति से कमरे से बाहर चली गयी ।

प्रमोद देखता ही रह गया। वह निर्धारित नहीं कर पाता था कि 'गार्गी मैत्रेयी बीसवीं सदी में भी—मानव वह है या मैं । क्या मैंने अबतक मानवता का ही पालन किया है ? मानवता की परिभाषा- को क्या मैं समझ सका हूँ ?'—

महेश की भाभी

"भाभी !"

सहसा उसने पीछे मुड़कर देखा कि महेश प्रफुल्ल-मुख उसकी ओर देख रहा है। वह भी स्थिर दृष्टि किये उसकी ओर देखती रही। महेश ने देखा कि उसकी भाभी रो रही है। यथा साध्य प्रयत्न करने पर भी पलकें अपनी सीमा में आँखों की करुणा को समेट नहीं पातीं। महेश की आँखों ने यह भी देखा कि धीरे धीरे उसकी भाभी का मुख आरक्त हो गया है और संपूर्ण मुख पर करुणा छा गई है।

महेश ने अपने आनन्द को अपने में समेट आश्चर्य भरे स्वर में कहा—"भाभी तुम रो रही हो?"

वह कुछ नहीं बोली, पर उसने अपनी बिखरी करुणा को समेटने का कोई प्रयत्न नहीं किया। आँखों की राह हृदय का जो दुख पानी बन कर बह रहा था उसे बहने दिया। शायद वह अपने दुःख को महेश से छिपाना नहीं चाहती। उसने यह भी अनुभव किया कि ऐसा कर सकने की उसमें शक्ति भी नहीं है क्योंकि महेश के सामने ही अगर वह छिपी छिपी रहेगी तो उसे जानेगा ही कौन? उसने कई बार अनुभव किया है कि महेश उसे जानता है, उसके निकट है और इसी-लिये उसने मुख पर अस्तव्यस्त बिखरी करुणा को समेटने का प्रयत्न नहीं किया।

महेश से न रहा गया, उसने व्यग्र और कांपते स्वर में कहा—'तुम्हें मेरी कसम है भाभी! सच बताओ तुम्हें आज क्या हो गया है?'—जैसे उसके हृदय की सोई हुई कोमल भावनायें एकाएक जाग कर उसकी भाभी की करुणा में विलीन हो जाना चाहती है।

महेश की स्थिति को समझ वह कुछ शांत हो गई। उसने अंचल

से अपनी भीगी हुई पलकों को पोंछ डाला। महेश पास के एक सोफे पर बैठ गया और प्रतीक्षा भरी पलकों से अपनी भाभी की ओर देखने लगा।

महेश की भाभी का नाम है प्रणया—दुबली पतली देह, मुख पर एक अनुपम तेजस्विता, आंखों में करुणा और पवित्रता का सामंजस्य।

"महेश! अरे तुम कब आये?"

महेश ने मुड़ कर देखा, अशोक दरवाजे पर खड़ा है। उसने कहा "आओ अशोक" और अशोक आकर उसी के पास सोफे पर बैठ गया।

"अशोक रोज रोज की यह बातें ठीक नहीं, भाभी आज भी रो रही हैं।" महेश ने कुछ गंभीर होकर तेजी से कहा!

अशोक ठठा कर हंस पड़ा, कहा—"वह तो पागल है। ज़रा ज़रा सी बातों को महान् रूप कर वह अपना और मेरा—"

प्रणया ने चिल्लाकर कहा—"महेश मैं रोऊं, हंसूँ या चाहे जो कुछ करूँ, तुम्हें हमारे बीच बोलने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे जीवन भर रोना ही है..."

इतना कह कर बिजली जैसी तड़प कर प्रणया वहाँ से चली गई। महेश विस्फारित आँखों से उसकी ओर देखता ही रह गया—विस्मित! स्तम्भित! उसने चाहा कि अभी अभी प्रणया के चरणों पर पुस्तक रख कर अपने अपराध की क्षमा माँग ले किन्तु अशोक पहले से भी दूने जोर से ठहाका मार कर हँस पड़ा और बोला—"चलो महेश आफिस का समय हो गया है। पागल के मुँह लगने से कोई फायदा नहीं है"

प्रणया ने ये शब्द सुन लिये। उसने चाहा कि वह संपूर्ण शक्ति के साथ अपने पर लगाये पागलपन के कलंक को धो दे। पर अभी अभी वह महेश से जो कुछ कह आई है उसने जैसे उसकी सारी शक्ति

छीन ली। चाह कर भी वह बाहर न जा सकी, पैर भारी हो गये। उसने सामने की दीवार पर सिर टिका अपनी आँखों के प्रवाह को मुक्त कर दिया।

असह्य दुख के भार से दबे हृदय को हलका करने की शक्ति सिर्फ रोने में ही है। बड़े से बड़े दुख के पहाड़ को रोना पानी बना कर बहा देता है। रुदन से हृदय में निर्मलता का जो सृजन होता है वह अपूर्व ही होता है। जिसने अपने जीवन में इस स्थिति को अनुभव नहीं किया, उसका जीवन प्राणहीन कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

प्रणया रोई और रोती रही। वह जानती है कि इच्छा न रहते हुए भी उसने किसी प्रबल आवेग में आ कर महेश से जो बात कह दी है वह बहुत तीखी थी और उसे न कहनी चाहिये थी। उसे अपने असंयम पर क्रोध हो आया। क्यों वह अपने को आपे में न रख सकी? एक साधारण मनुष्य की तरह क्यो वह हृदय के प्रवाह के साथ बह गई?

महेश आज ठीक तौर पर पैरवी न कर सका। अशोक न होता तो उसका मुकदमा बिगड़ जाता। अशोक ने बात सम्हाल ली। महेश की स्थिति उससे छिपी न रही। वह समझ गया कि आज महेश के हृदय पर गहरी चोट लगी है। महेश मेरा मित्र है। शैशव का साथी। मेरा घर उसी का घर है। प्रणया को क्या अधिकार है कि वह महेश से ऐसी तीखी बात कह दे। घर आते हुए एक पुल को पार करते समय अशोक ने कहा, "महेश।"

महेश अपनी पलकें उठा कर अशोक की ओर देखने लगा। अशोक ने कहा, "देखो महेश, प्रणया के कहने पर ध्यान न दो, उस का स्वभाव ही ऐसा है। रोज इसी तरह मुझे परेशान किया करती है। मेरी जगह तुम होते तो घबरा कर भाग ही जाते।"

"मेरी जगह तुम होते"—महेश का हृदय बराबर यह वाक्य दुह-

राने लगा। उससे उसके हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए उनका प्रतिबिम्ब उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में उदित हो गया। अशोक से यह स्थिति छिपाने के उद्देश्य से उसने अपनी विस्तीर्ण पलकों का आवरण उन पर डाल दिया।

अशोक ने कहा, "तुम्हें मेरी शपथ है महेश! मेरे घर आना। वह मेरा घर है। मेरी प्रत्येक बात में दखल देने का तुम्हें अधिकार है।"

महेश ने अनुभव किया कि अशोक बिलकुल उसके निकट आ गया है। वह आवेग से बोला, "अशोक, जीवन में क्या कभी मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ?" और उसने अशोक का हाथ अपने हाथ में ले लिया।

महेश जिस समय घर पहुँचा, संध्या हो रही थी। अभी अँधेरा नहीं हुआ था। कपड़े उतारे और तिमंजिले पर जा कर बैठ गया। आकाश में पश्चिम की ओर अनुपम लाली खिल पड़ी थी। प्रशान्त प्रकृति पर उस लाली का प्रतिबिम्ब पड़ने से एक अभिनव शोभा आ गई थी। महेश मुग्ध हो गया, फिर एकाएक यह देख कर उद्विग्न भी हो उठा कि लाली धीरे-धीरे नष्ट हो रही है।

रात को भोजन करते समय महेश ने अपनी पत्नी से कहा, "आज तुमने कितनी चीजें बनाई हैं नीरा। मैं तो घबरा गया हूँ और फिक्र में पड़ गया हूँ कि इन्हें समाप्त कैसे किया जाय?"

नीरा स्थिर दृष्टि से देखती हुई कहने लगी, "ये चीजें मैंने नहीं बनाई हैं।"

एकाएक चौंक कर महेश ने कहा, "फिर किसने बनाई हैं?"

हँस कर नीरा ने कहा "पहिचानो?"

"तुम्हीं बताओ।"

"कहो कि मैं हार गया।"

महेश प्रेमपूर्वक उसकी ओर देख कर बोला, "मैं तो तुमसे

हमेशा हारता आया हूँ नीरा! भला मुझ में तुम्हें जीतने की हिम्मत कहाँ?"

नीरा ने सहज सरलता से कहा, "तुम्हारी भाभी ने बना कर भेजी हैं।"

महेश ने अनुभव किया जैसे उसके हृदय-मन्दिर में हजारों शंख, घड़ियाल और नगाड़े एक साथ ही बज उठे हों और उस नाद में जैसे उसके हृदय में कोमल स्वर विलीन हो रहे हों। उसकी आँखें खुली की खुली रह गईं, वह नीरा की ओर देखता रहा, अवाक्, किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा।

नीरा ने उसी तरह सरलता से कहा, "यह तुम्हारी भाभी कितनी अच्छी हैं! हमें कितना प्यार करती हैं! बिलकुल अपना समझती हैं।"

महेश जैसे एकाएक रोष में आवेग से बोला, "किन्तु नीरा, तुम भाभी से कह दो कि वह भविष्य में कोई चीज हमारे यहाँ न भेजा करें। हम गरीब हैं। उनके उपकारों का बदला न चुका सकेंगे। सहज ही किसी के उपकारों से दबना अच्छा नहीं नीरा।"

और महेश उठ गया। किसी चीज को फिर उसने छुआ भी नहीं। नीरा सोचने लगी इन्हें आज हो क्या गया है?

(२)

आज रविवार है। महेश का नियम है कि वह रविवार अशोक के यहाँ बितावे। पर आज वह वहाँ न जायेगा। हमेशा किसी के घर जाना ठीक भी तो नहीं है। अतीत जीवन का सिंहावलोकन करने पर महेश को ज्ञात हुआ कि आज तक रविवार को वह स्वयं ही अशोक के यहाँ गया है अशोक ने कभी उसे बुलाया नहीं और बगैर बुलाए किसी के घर जाना क्या असभ्यता नहीं है?

नीरा कमरा झाड़ने ऊपर पहुँची तो उसने देखा महेश अभी तक सो रहा है। उसे कुछ आश्चर्य हुआ। प्रत्येक रविवार को वह कितनी

जल्दी उठता है। कितनी उत्सुकता और आनन्द के साथ वह प्रणया के घर जाता है। यह सारी बातें उसे याद हो आईं। पास जाकर कहा, "अरे सुनते हो, आठ बज रहे हैं और तुम सो रहे हो। तुम्हारी भाभी राह देख रही होंगी। क्या आज वहां नहीं जाना है ?"

आज से पहिले कितनी ही बार यह बातें उसने महेश से कही थीं। किन्तु उसने कभी भी इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। आज यही बात कुछ असह्य सी हो गई। वह उठ कर बैठ गया और आवेग से बोला, "क्या भाभी की नाराजगी के भय से मैं प्रत्येक रविवार को वहाँ जाता हूँ ? अशोक जैसे उस घर का कोई नहीं है, क्यों नीरा ?"

नीरा उसी तरह शान्त और सरल भाव से कहती गई, "यह मैं नहीं जानती। अशोक तुम्हारे मित्र हैं, मुझे मंजूर है पर भाभी का निर्मल स्नेह ही तुम्हें वहाँ खींच कर ले जाता है, यह निर्विवाद है।"

महेश ने अपने स्वर को कुछ और ऊँचा कर कहा, "नहीं, अशोक मेरा बचपन का साथी है, उसका मान ऊँचा है,पहले वह फिर भाभी।"

नीरा ने हँस दिया, कहा "यहाँ 'मान' की बात नहीं है, 'स्नेह' की चर्चा है। जो जिस पर अकृत्रिम स्नेह करता है, उसी के सम्बन्ध में उसी के गुणों की रात दिन तारीफ किया करता है। मुझे अच्छी तरह याद है तुमने रात के बारह-बारह बजे तक भाभी के गुणों का बखान किया है। एक क्षण को भी—"

महेश हतप्रभ हो गया। यह जो उसकी दुर्बलता उसके सामने स्पष्ट शब्दों में रखी गई उसे वह कैसे सहन करे। यह सही है कि आज प्रथम बार उसने अपनी दुर्बलता का अनुभव किया फिर भी यह बात उसे सह्य न थी कि कोई दूसरा उसकी दुर्बलताओं की उसी के सामने मीमांसा करे। उसने चिढ़कर कहा, "अच्छा, बाबा अच्छा, तुम्हारा ही कहना सही है। इसीलिए आज से मैंने वहाँ जाना बन्द कर दिया है।"

नीरा के कहने का यह अभिप्राय नहीं था। अपने कथन का उलटा अर्थ होते देख वह घबरा गई और आंखों में आँसू भर कर बोली, "मेरे कहने का यह मतलब नहीं था कि तुम वहां न जाओ। तुम नहीं जानते मैं भाभी को कितना चाहती हूँ। कई बार जी चाहा है कि उनके चरणों पर मस्तक रख कर आशीर्वाद लूँ। नाराज न हो, तुम्हें मेरी शपथ है। तुम वहाँ जाओ या न जाओ, पर न जाने का कारण मुझे न बनाओ—तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, भाभी यह जानेंगी तो उन्हें मैं मुँह कैसे दिखा सकूँगी।" नीरा के नेत्रों से निर्मलता का नीर बहने लगा।

महेश ने फिर कुछ न कहा। वह कमरे से बाहर जाने लगा। नीरा ने दौड़ कर उसकी कमीज पकड़ ली। महेश रुका। तब नीरा ने कम्पित स्वर में कहा, "क्या सचमुच तुम नाराज हो गए?"

महेश ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"नहीं तो।"

आनन्द से गद्गद हो नीरा बोली "तो तुम भाभी के घर जाओगे?" महेश शान्त भाव से बोला, "हां जाऊँगा।" और जब महेश प्रणया के घर जाने को तैयार हुआ तब नीरा ने कहा, "ठहरो।"

महेश ने हँस कर कहा, "क्यों?"

अंचल के नीचे से उसने अपना बायां हाथ निकाला तो महेश ने देखा एक बड़ा ताजा गुलाब का फूल है।

आंखों से आनन्द उड़ेलती और मुख से हँसी बिखेरती हुई नीरा महेश के कोट के कालर में वह फूल लगाने लगी। लगा चुकने पर उस ने हंस कर कहा, "अब जाओ।"

नीरा के दोनों कंधों को अपने दोनों हाथों से पकड़, उसकी आंखों में अपनी आंखें डाल महेश उन्मादित सा हो कर बोला, "अब जाने को जी नहीं चाहता नीरा।"

आंखों से प्रेम बरसाती नीरा महेश की ओर देखने लगी। फिर पतली, गोरी और रक्तिम नाखून वाली उँगली अपनी सुकोमल नासिका

पर रख नीरा ने महेश को चुप रहने का आदेश दिया और एक हलका झटका दे कर वहां से भाग गई।

महेश धीरे-धीरे प्रणया के घर की ओर बढ़ा।

(३)

महेश जिस समय प्रणया के घर पहुँचा उस समय वह बहुत गम्भीर थी। उसकी जीवन पहेली दिन पर दिन उलझती ही जा रही थी। उसे सुलझाने में आज सारी रात उसने बिताई थी। अब भी वह कुछ सोचने में इतनी तल्लीन थी कि महेश कब आकर उसके समीप खड़ा हो गया, यह वह नहीं जान सकी। महेश निर्निमेष उसकी ओर देखता रहा, फिर धीरे से कहा "भाभी।"

प्रणया ने चौंक कर उसकी ओर देखा। नियम के अनुसार हँसकर उसका स्वागत भी किया पर महेश ने जाना कि यह हँसी नित्य की सहज-सरल, स्नेहसनी हँसी नहीं है। वह हँसी उसके हृदय तक पहुँचते-पहुँचते वेदना बन गई।

प्रणया ने एक कुर्सी की ओर इशारा कर कहा, "महेश आओ बैठो।"

प्रणया की गम्भीरता ने कुछ ऐसी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी है कि महेश सोच नहीं पा रहा है कि इस समय क्या बातें की जायँ। वह एकाएक कह उठा, "भाभी, तुमने कल कितनी चीजें बना कर भेजी थीं इतनी तवालत उठाने की जरूरत ही क्या थी? सच जानो भाभी, एक-एक चीज इतनी सुन्दर बनी थी कि कहते नहीं बनता। मानो तुम्हारे हाथों में अमृत हो।"

महेश सरासर झूठ बोल रहा था। प्रणया फिर हँसी। किन्तु इस हँसी का आवरण उसकी वेदना को ढक न सका और महेश ने भी उसकी वेदना को देख लिया। उसने फिर कहा, "तुमने मेरे लिए इतनी तकलीफ क्यों उठायी भाभी?"

इन शब्दों ने जैसे प्रणाया को एक नीची सतह पर ला दिया। उस ने तड़प कर कहा—"मैं किसी के लिए क्यों तकलीफ उठाती महेश ! कल उनके लिए मैंने स्वयं ही भोजन बनाया था। तुम उनके मित्र हो, मैंने तुम्हारे लिए भी भेज दिया। इसमें मुझे तो कोई विशेषता नजर नहीं आ रही है। और खाने पीने की बातों को इतना महत्व देने की आवश्यकता ही क्या है ?"

पर सच बात तो यह थी कि अशोक कल अपने एक मित्र के घर भोजन करने गया था।

महेश का मुख लज्जा से आरक्त हो गया। वह चुप हो गया। आत्मग्लानि से उसका हृदय भर आया। क्या वह इतना दीन-हीन है कि उसका इस तरह अपमान किया जाय, उसके कहने का ऐसा विपर्यास किया जाय ? उसने कहा, "और कह भी दिया भाभी तो हर्ज ही क्या है ? जो बात सत्य है उसे कहने में हमें संकोच क्यों होना चाहिए ?"

"जो बात कहनी होती है, वह पूर्णतः विचार कर कहनी चाहिए समझे महेश ! और बात करते समय यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि बात कह देने पर उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का कहने और सुनने वालों पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसी छोटी-छोटी बातें जो अनायास हमारे मुख से निकल जाती हैं उनका परिणाम भयानक भी हो सकता है। अतः बिना सोचे-विचारे उनको कह बैठना दुर्बलता के सिवा और क्या है ? संपूर्ण नियंत्रण के साथ—सजगता के साथ—अपना जीवन संचालित करना—एक क्षण को भी स्वयं को निर्बल न होने देना ही मनुष्यता है।"

आज किस कुघड़ी महेश आया जो उसे यह कड़वी बातें सुननी पड़ीं। निर्बलता का आरोप और भी असह्य था। उसने कह दिया—"किन्तु भाभी नियंत्रण के आवरण के नीचे स्वयं को छिपा, अपने

वास्तविक रूप पर परदा डाल, एक निराले ही रूप में विचरण करना मनुष्यता की बिडम्बना होगी।"

प्रणया आपे से बाहर हो गई। उसने चिल्ला कर कहा, "अच्छा, अच्छा, मेरे सिद्धान्त गलत ही सही, मैं 'मुंह में राम बगल में छुरी' वाली कहावत ही चरितार्थ करती रहती हूँ। किन्तु जो कुछ मैं हूँ, वह हूँ। मुझे तुम्हारे ज्ञान की, सहानुभूति की, या और किसी चीज की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। मैं एकाकी हूँ। मेरा कोई नहीं है......।" प्रणया के अधर थर-थर कांप रहे थे। वह आगे न बोल सकी।

महेश हतप्रभ हो गया। वास्तव में उसने बहुत तीखी बात कह दी थी। उसे समझना चाहिए था कि उस की भाभी में उसे सहन करने की क्षमता नहीं है। उसने कहा "भाभी!"

प्रणया ने कम्पित स्वर में कहा, "तुम्हारी भाभी मर गई।" प्रणया उठ कर दूसरे कमरे में जाने लगी। महेश मंत्रमुग्ध की भाँति उसके पीछे-पीछे लग गया। उसने पीछे मुड़ कर देखा कि महेश आ रहा है। वह बोली, "महेश मैं तुम से प्रार्थना करती हूँ कि तुम अभी चले जाओ। मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम यहां से जाओ महेश। मैं शान्ति चाहती हूँ।"

महेश उद्विग्न हो गया। उसने सोचा, अब यहां ठहरना वास्तव में भूल होगी। यह सोच कर वह सड़क पर आ गया, किन्तु उसका ध्यान सड़क की ओर न था। अभी जो अरुचिकर घटना हो गई है उसका मन उसी में उलझ रहा था। बार-बार वही घटना उसके हृदय में तूफान उत्पन्न कर रही थी। वह आज कितने आनन्द के साथ भाभी के घर गया था। उसने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि उस के उस आनन्द का पर्यवसान इतना दुखद होगा। नियति की इस विडम्बना पर वह हंसा। वह बहुत उद्विग्न हो गया था। प्रणया उसके

सामने एक प्रश्न-चिह्न बन कर खड़ी थी। वह क्यों ऐसी है? वह तीन महीने से प्रणया के घर जा रहा था। पर ऐसी उलझी-सी प्रणया को उसने कभी न देखा था। तीन महीने पूर्व ही महेश ने देहात से आ कर यहां अपनी प्रेक्टिस आरम्भ की थी। वह यह भी जानता है कि अशोक उसका बचपन का साथी है पर उसकी बनिस्बत प्रणया के अधिक निकट है।

घर आ गया था। नीरा बैठी स्वेटर बुन रही थी तन्मयतापूर्वक। कहा नहीं जा सकता कि उसकी आंखों में स्वेटर की गुत्थियां थीं या अपने जीवन की सुलझी गुत्थियां। कदाचित वह मन ही मन यह भी सोच रही थी कि एक ऊन के सूत्र में गुत्थियां डाल कर वह उन्हें उलझा रही है। उनके उलझने से ही तो स्वेटर तैयार होगा। उसमें प्राण आयेगा। सुलझना जैसे उसका मरण है। जीवन भी शायद ऐसी ही कुछ है, पर उसके जीवन में एक भी उलझी गुत्थी नहीं है। सुलझा, सुलझा सा उसका जीवन...!

महेश का पद-रव सुन कर उसका ध्यान भंग हुआ। असमय आते देख उसके हाथ रुक गए। मुख से अचानक निकल गया—"अरे, आ गए, इतनी जल्दी! मैं तो समझी थी कि...।"

जीवन की गुत्थियों में उलझा महेश यह सब सुनना नहीं चाहता था। गुत्थियों के अधिकाधिक उलझ जाने से उसका संयम खो सा गया था। उसने कहा, "इतना नियंत्रण मैं बरदाश्त नहीं कर सकूंगा नीरा, सदा तुम्हारे इच्छा के सहारे चलना मेरे लिए असम्भव है। क्या मुझे अपने घर भी आने जाने में स्वतन्त्रता नहीं है?"

नीरा ने अपने मन की सत्यता प्रकट करने के लिए कहना चाहा "नहीं नहीं, मेरे कहने का यह मतलब नहीं था।"

"हमेशा तुम यही कहती हो। कह देती हो और फिर उस पर परदा डालने का प्रयत्न करती हो।"

नीरा का हृदय अन्दर ही अन्दर क्रन्दन कर उठा। उसका मुख पीला पड़ गया। स्वेटर वह अब न बुन सकेगी। गुत्थियां डालने का साहस अब उसमें न रहा। वह उठी और धीरे धीरे रसोई घर की ओर चली गई।

सारा दिवस महेश उसी स्थिति में रहा। नीरा उसकी ओर देखती और चुप हो रहती। उस दिन वह स्वेटर न बुन सकी।

रात के सात बजे नीरा ने महेश के कमरे में आकर देखा तो महेश कहीं जाने को तैयार था। नीरा ने उसकी ओर देखा तथा एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर लौट गई।

महेश अपने में भूला सा चला जा रहा था। महेश से अगर पूछा जाय कि तुम किस रास्ते से आये हो, रास्ते में तुमने क्या-क्या देखा है तो वह न बता सकेगा। पैर जैसे अभ्यस्त हैं इसीलिए वह इच्छित स्थान पर पहुँच गया।

जब वह प्रणया के घर पहुँचा तो उसने सुना कि अशोक कह रहा है "पति के बिना पत्नी का समाज में कोई स्थान नहीं है, यह तो तुम जानती ही हो प्रणया। सारा समाज तुम्हारी ही ओर उँगली उठायेगा। जहां जाओगी समाज में तिरस्कार और अपमान पाओगी। जीवन एक भार बन जायेगा। इसलिए यह पागलपन छोड़ दो।"

"यह प्रश्न मेरा है। जितनी जिल्लत उठानी पड़ेगी उठाऊंगी, अपमान सहना होगा, सहूँगी। दुख उठाने पड़ेंगे उठाऊँगी किन्तु अपना कर्तव्य, अपना आदर्श न छोड़ूँगी।"

"जिसे तुम कर्त्तव्य, ध्येय या जो कुछ समझ रही हो वह पागल-पन है।"

"यह तुम्हारा दृष्टिकोण है, मेरा नहीं। मेरे लिये यह पागलपन ही सब कुछ है। मेरा प्राण है।"

"उसे छोड़ देने पर तुम्हें कहीं ठिकाना न मिलेगा। समाज के

लोग तुम्हें सहारा न देंगे, उलटे घृणा करेंगे। तब तुम कहां जाओगी।"

प्रणया की आँखें भर आईं। उसने गद्गद् कण्ठ से कहा—"मेरा इस दुनिया में कोई नहीं है—कोई नहीं तुम हो, सो अब तुम में और मुझ में निभ नहीं सकती। एक स्थान और है जहां मैं अधिकार पूर्वक रह सकती हूँ।"

अशोक ने अधीरता से कहा—"कौन सा वह स्थान है, जरा मैं भी सुनूँ।"

प्रणया ने स्थिर दृष्टि से अशोक की ओर देख कर कहा,—'महेश का घर।"

अशोक की आँखें विस्फारित हो गईं, उसके मुंह से निकल गया—"महेश का घर?"

"हाँ, वही एक स्थान ऐसा है जिसे मैं अपना समझती हूँ।"

अपने प्रति भाभी का ऐसा आत्म-विश्वास देख महेश गद्गद् हो उठा। उसने सोचा वह अपनी भाभी के लिए अखिल जगत को छोड़ सकता है लात मार सकता है। प्राण देकर भी वह अपनी भाभी के विश्वास की रक्षा करेगा।

वह दरवाजा खोल कर अन्दर आ गया। बारी बारी से प्रणया और अशोक दोनों ने उसे देखा।

महेश को देख प्रणया कुछ उत्तेजित सी हो गई। उसने आवेग से कहा, "महेश, तुम समय पर आ गए। मैं कुछ दिन तुम्हारे घर रहना चाहती हूँ। क्या तुम यह बात स्वीकार करोगे?"

महेश आत्म-विस्मृत सा होकर बोला "कुछ दिन क्यों भाभी। आजीवन तुम मेरे घर रह सकती हो। मेरा घर तुम्हारा ही है।"

अशोक उन दोनो की ओर देख कर हँसा। उसने तीखे स्वर में कहा, "तो तुम अभी जा रही हो प्रणया? मुझे नींद आ रही है।'

"मैं तुम्हारे काम में बाधा बन कर रहना नहीं चाहती, मैं अभी

जा रही हूँ। मैं अपने साथ सिर्फ चूड़ियां ही ले जा रही हूँ। तुम जानते हो कि चूड़ियां मेरी हैं, तुमने न दी थीं। यह सुनकर अशोक से न रहा गया। किन्तु यह तो मैंने नहीं कहा प्रणया कि कुछ न ले जाओ। तुम जो कुछ चाहो ले जा सकती हो। तुममें और मुझमें मतभेद हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं तुमसे कभी अलग हो सकता हूँ। मुझे समझने में तुम्हें भूल हुई है और इतनी ज्यादती मैं सहन न कर सकूँगा।" बोलते-बोलते उसका कण्ठ कांपने लगा।"

महेश अशोक की बात सुन कर गद्गद् हो उठा था। अशोक ने जो अपना हृदय खोल कर प्रणया के सामने रख दिया था उसे महेश चाहता था कि प्रणया ठुकराये नहीं पर जब प्रणया ने कहा कि "चलो महेश" तब वह कुछ भी प्रतिवाद न कर सका। अशोक की ओर देखने तक का भी साहस उसमें न रहा। वह चुप-चाप चलने लगा। प्रणया उसके पीछे-पीछे चली।

अशोक उन दोनों की ओर देख रहा था। उसके चेहरे पर अब एक मस्ती भरी मुस्कुराहट नाच रही थी।

(४)

महेश जब घर पहुँचा दस बज रहे थे। दरवाजे पर थपकी देकर उस ने पुकारा "नीरा"।

नीरा ने दरवाजा खोल दिया। महेश अन्दर आया और पीछे से प्रणया। नीरा के मुँह से अचानक निकला, "कौन भाभी?"

प्रणया के मन में संघर्ष छिड़ा था, वह खुल कर हंस सकी। वह आज मेहमान बन कर नीरा के घर नहीं बल्कि आश्रिता के रूप में आई है। नीरा इस घर की स्वामिनी है और यह भी भूली नहीं है। उसे हंसना चाहिए, हंस कर कहा "हां, बहन।"

प्रणया के आगमन पर सदा आनन्दित होने वाली नीरा आज हंस

न सकी, प्रसन्न न हो सकी। इतनी रात गए दोनों का अकेला आना उसे खल गया। दोनों की मुखाकृति से प्रकट था कि किसी विशेष घटना के कारण ही वह इस घर में आई है। महेश पर उसे क्षोभ हो आया और प्रणया के प्रति अरुचि।

प्रणया और महेश दोनो बरामदे में आकर बैठ गए। नीरा की चुप्पी ने प्रणया को विह्वल कर दिया। थोड़ी देर बाद चाय और जलपान लेकर नीरा बाहर आई और दोनों के सामने रख कर जाने लगी।

महेश से भी नीरा की यह अवस्था छिपी नहीं रही उसने कहा—"नीरा तुम भी आओ। चुप क्यों हो? भाभी आई हैं, सभी साथ-साथ चाय पियेंगे। और अब भाभी यही रहेंगी नीरा।"

नीरा को यह बात अच्छी नहीं लगी, पर वह भूली नहीं थी कि महेश अभी कुछ ही देर पहिले नाराज होकर प्रणया के घर गया था। उसे अधिक नाराज करना ठीक भी नहीं है। कहीं प्रणया के सामने ही महेश कहीं उसका अपमान कर दे तो वह सहन न कर सकेगी। वह बैठ गई।

थोड़ी देर बाद प्रणया और महेश बातों में घुल-मिल गये। नीरा ने सोचा अब उसकी आवश्यकता नहीं रह गई है। वह उठी और अपने कमरे की ओर चली गई।

उस रात वह स्वेटर नहीं बुन सकी आज सर्व-प्रथम उसे अनुभव हुआ कि उस का जीवन भी गुत्थियों से उलझा हुआ है। उसके अनजान में ही न जाने कैसे गुत्थियां तैयार हो रही थीं। जमा भी उस ने स्वेटर हाथ में लिया और बुनने के बजाय उसे उधेड़ने लगी।

सारी रात महेश सो न सका। जागता रहा। वह समझ नहीं पा रहा था कि जो कुछ उसने किया है, उसमें उसे कितना करना चाहिए था, कितना न करना चाहिए था बीच में अशोक के प्रति कहीं अन्याय

तो नहीं हुआ ? भाभी और अशोक के बीच किस विषय पर चर्चा शुरू हुई थी, वह भी तो उसे ज्ञात नहीं था। उसने इस सम्बन्ध में किसी से कुछ पूछा भी तो नहीं था, इस ख्याल से कि किसी की घरेलू बातों में पड़ना ठीक नहीं। सोचा था कि घरेलू झगड़े हैं अपने आप सुलझ जायेंगे, पर कल उस झगड़े का भीषण रूप देखकर वह घबरा गया और जो कुछ हो रहा था उसे होने दे किंतु इस तरह इन सारी बातों का होना ठीक नहीं है। वह सबेरे अशोक से मिल कर इस समस्या को समझायेगा।

सुबह वह अशोक के घर गया। बातें करते करते आठ बज गये नीरा और प्रणया दोनों उसकी बाट जोह रही थीं। महेश आया तो गंभीर था।

महेश को देखते ही प्रणया ने कहा "कहां गये थे ? बिना कहे सुने चले जाना ठीक नहीं है। रोज इसी तरह चले जाते हो क्यों ? नीरा बहन चिंता में घुली जाती होगी। न हुई मैं उनकी जगह—"फिर कुछ संभल कर कहा—"अच्छा बैठो, मैं भी कैसी हूं कि देवर राजा थक कर आये हैं, संभल कर बैठने भी न दिया और लगी बड़बड़ाने।"

महेश फिर भी कुछ न बोला, वह एक कुर्सी पर बैठ गया। नीरा न जाने क्यों अन्दर चली गई। महेश ने अपने को और भी गंभीर बनाकर कहा—"भाभी !"

"क्या ?"

"एक बात कहूँ नाराज तो न होगी।"

"नहीं महेश, तुम पर नाराज होना अब इस जीवन में संभव नहीं है।"

स्थिर दृष्टि से देख महेश ने कहा, "तुम अपने घर वापस न जा सकोगी भाभी ? अशोक का जीवन सच ही दुखमय हो रहा है। मैं वहीं से चला आ रहा हूँ, कह रहा था अशोक—सारा घर सूना हो गया है।

भाभी ! उसकी अवस्था दयनीय हो गई है।"

प्रणया के हृदय में यह शब्द शूल बन कर चुभ गये। फिर भी वह उन्हें पचा गयी। हसकर बोली—"ओह तो आप बड़े भइया के यहां गये थे। अच्छा, छोटे भइया ठहरो, जलपान कर लो, चाय पीओ, स्वस्थ हो जाओ, फजूल की बातों में पड़कर अपने मस्तक को भारी न बनाओ।"

ऐ नारी ! कैसी अगम्य है तू, कौन सी शक्ति है तुझमें जो तू विष पीकर उसे पचा जाती है। तेरा हृदय बिलख-बिलख कर रो रहा है। उसके करुण स्वर बद कर तू हस हंस कर कैसे बातें कर रही है ।

प्रणया तड़प कर अन्दर गयी और चाय और बिस्कुट ले आई उसने कहा, "लो खाओ,"

महेश को यह बातें अच्छी नहीं लगीं। प्रणया का यह व्यवहार उसे खल गया। अशोक के साथ अन्याय हुआ है; यह विश्वास उसके हृदय में पनप रहा था। वह यह भी नहीं भूला है कि प्रणया के वह इतने निकट पहुँच गया है जितना उसे न जाना चाहिये था। फिर भी वहां से लौटना वह नहीं चाहता। लौट भी न सकेगा। किन्तु यह बात रह रह कर उसे खटक रही है कि अशोक उसका मित्र है और उसकी पत्नी को अपने घर लाकर उसने अन्याय किया है। उसने आवेग से कहा—"तुम्हारी यह बातें संतोषप्रद नहीं हैं भाभी उस दिन मुझसे भूल हो गई है।"

अब प्रणया अधिक न सुन सकी। उसने कहा—"भूल का परिमार्जन कैसे हो सकेगा महेश, यह मुझे बताओ। मैं मरकर भी उसका परिमार्जन करूँगी। मैं तुम पर विश्वास करती हूँ, अधिकार रखती हूँ, इतना ही मैं जानती हूँ किंतु तुम्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुम्हारी भाभी यहीं तक सीमित नहीं है।"

फिर कुछ ठहर कर उसने कहा—"भूलें होना अनहोनी घटना

नहीं है, जीवन उन्हीं से तो बना है। तुम्हारा कहना टालूँगी नहीं। तुमने उस दिन जिस साहस का परिचय दिया है उसके लिए प्रणया का मस्तक हमेशा तुम्हारे सामने झुका रहेगा। अच्छा अब चाय पीजिये महाशय!" यह कह कर प्रणया हंसी।

महेश रोमांचित हो उठा। उसका हृदय भाभी के शब्दों से आंदोलित हो उठा वह आवेग से उठा। उसने प्रणया का दाहिना हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर कहा "भाभी बताओ—तुम कौन हो, देवी या मानुषी?"

प्रणया ने उसी हंसी को जरा और स्फुरण देकर कहा—"अच्छा चाय ठंडी हो रही है।"

नीरा ने यह सब देख लिया। उसे महेश पर खूब क्रोध आया। शब्द तो उसने नहीं सुने। किंतु महेश का अभिनय उसने देखा। आज उसे ज्ञान हुआ कि महेश से वह बहुत दूर चली गई है।

(४)

उस दिन नीरा अनमनी रही। वह सोच रही थी, यह सब क्या हो रहा है। जीवन में क्यों यह तूफान आया है और इस तूफान में वह कैसे ठहर सकेगी। उसे अब प्रणया के सामने जाने की हिम्मत नहीं हुई। एक बार उसने सोचा प्रणया से सारी बातें कह दे, उसके चरणों पर गिर कर अपना सुख लौटा देने की प्रार्थना करें। पर दूसरे ही क्षण उसने सोचा महेश उसका है। प्रणया के सम्मुख वह हीन बनने न जावेगी। सर्वथा असम्भव!

दोपहर को भी वह कमरे से बाहर न निकली। सोचती रही, सोचती रही। अचानक उसने लिखा—

"कितना आनन्द मय था मेरा जीवन! कैसे सुनहले दिन थे—पुष्प से सुन्दर सुगंधमय और उन्माद भरे। आज फूल एकाएक कुम्हला गये हैं, सुगंध नष्ट हो रही है। हम दोनों के बीच एक दीवार खड़ी हो

गई है ओह ! प्रीत की स्मृतियां अब मीठे स्वप्न ही तो हैं...''

लिखना बन्द हो गया। खिड़की से बाहर देखा पीपल के पेड़ का एक पत्ता थरथर कांप रहा था। बाकी सारे पत्ते स्थिर शांत थे। उसने सोचा सारा जगह शांत है, उसका ही जीवन इस पत्ते की तरह कांप रहा है। उसकी आंखों में आंसू आगये। वह उठी खिड़की में जाकर खड़ी हो गई। पत्ते की ओर देखने लगी। पत्ता और भी जोर से कांपने लगा।

प्रणया ने सोचा नीरा से बातें की जायं। वह उठी और नीरा के कमरे में आई। देखा नीरा खिड़की के पास खड़ी है। वह चुपके से उसकी आंखें ढंकना चाहती थी। हलके-हलके वह बढ़ी, टेबिल के पास वह रुकी। कागज की ओर नजर गई। कुतूहल बढ़ा, पढ़ने लगी। पढ़ा एकबार नीरा की ओर देखा और लौट गई।

उसी रात प्रणया ने सुना नीरा कह रही है—''यह तुम क्या कर रहे हो जी। तुम मेरा जीवन नष्ट क्यों कर रहे हो ?''

''क्यों क्या हुआ नीरा ?''

''क्या हुआ ? जैसे कुछ जानते ही नहीं।''

नीरा एकदम रो पड़ी। आंसू भरी आँखों से महेश की ओर देखती हुई कहने लगी—''लगता है जीवन का सुख छिन गया है। इन यंत्रणाओं से तो मर जाना बेहतर है।''

महेश अब सब कुछ समझ गया। उसने कहा—''मुझे समझने में भूल न करो। ज़रा सोचो भाभी श्रद्धास्पद है। जीवन में श्रद्धा का भी एक स्थान हो सकता है नीरा।''

''मैं यह कुछ नहीं जानती, एक दो दिन की बात होती तो ठीक भी था। जब वह यहां रहेंगी, तो दुनिया चुप नहीं रहने की। तुम तो पुरुष हो, किन्तु भाभी स्त्री हैं, उन्हें अपने नारीत्व का कुछ विचार करना चाहिए।''

महेश ठहाका मार कर जोर से हंस पड़ा, कहा—"अरे पगली! भाभी इतनी मूर्खा नहीं हैं। उन्होंने घर जाने का मुझ को वचन दिया है। स्त्रियों में स्पर्धा का गुण अधिक होता है यह जो कहा जाता है सत्य ही है।

नीरा हँस पड़ी।

(५)

प्रातःकाल महेश जब प्रणया के कमरे में गया तो वह वहां नहीं थी पलंग पर एक पत्र रखा था:—

"मेरे महेश—बड़ी भूल हो गई वह तुम्हारा कहना सही है मैं स्वीकार करती हूँ। तुम्हारे साथ आने में मैंने भूल की है, जिसका प्रायश्चित करना अनिवार्य हो गया है।

इससे पहले कि मैं भूल-सुधार के सम्बन्ध में लिखूँ आज अपने हृदय की एक बात तुमसे कहना चाहती हूँ। वह इससे प्रथम ही कहना चाहिए था। समय नहीं आया था। इसलिए न कह सकी।

मैं आज से चार महीने पूर्व अपनी एक सहपाठिनी से मिलने उस के देहात गई थी। वहां जाकर जो कुछ मैंने देखा, उसे मेरा हृदय रो उठा। कितनी दयनीय करुणाजनक दशा है, देहाती नारियों की। मेरा विश्वास हो गया है कि भारत का नारी समाज शहरों तक ही सीमित नहीं है। देहातों में भी उसका विशाल पर दयनीय रूप बिखरा पड़ा है और वही भारत की नारी का सच्चा रूप है। उसका उद्धार भारत की समस्त नारी जाति का उद्धार है।

मैंने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि भविष्य का जीवन इन्हीं की सेवा में अर्पण करूँगी। अशोक इस बात पर सहमत नहीं हुए उनका जगत उन के घर तक ही सीमित है, मेरा जगत विशाल हो गया है। विवाद बढ़ता गया और परिणाम तुम्हारे सामने है।

तब मेरा ध्यान तुम्हारी ओर गया। मुझे विश्वास था और है कि

तुम मुझ पर श्रद्धा रखते हो, तुम्हारा सहारा लेना चाहा। महेश वह खाने की चीजें तुम्हारे लिये ही बनाई थीं आज वह सत्य तुम्हारे सामने प्रकट कर रही हूँ।

अब सोचती हूं कर्तव्य-पालन में, ध्येय की सिद्धि में परमुखापेक्षी रहना असफलता को गले लगाना है। स्वयं अपने पैरों पर खड़े रहना सफलता की ओर जाना है। सफलता का बीज उसी में है।

अपने घर न जा सकूँगी, पर इस घर से जा रही हूँ क्योंकि मैंने तुम्हें वैसा बचन दिया है।

भविष्य में क्या करूँगी यह तुम समझ ही गये हो। हो सका तो सफलता के मार्ग पर पहुँच कर तुम्हें पत्र लिखने का विचार करूँगी।

नीरा बहन से कहना, उसका सुख छीनने की मेरी कभी इच्छा नहीं हुई। अगर कभी ऐसी इच्छा पैदा हो तो मैं परमेश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि उसी क्षण मुझे मृत्यु दे दे।

नीरा को आशीर्वाद। ईश्वर तुम्हें चिर सुखी करे।

तुम्हारी

भाभी

महेश अवाक चित्र लिखित सा, विस्फारित आंखों से सामने देखता रहा, देखता रहा, अवाक् और किं-कर्तव्य विमूढ़ सा।

नीरा आई महेश के हाथ से पत्र लेकर उसने पढ़ा और महेश की ओर देखने लगी। अचानक उसके मुख से निकला कि "भाभी गई?"

महेश ने सिर हिला दिया—"हां"

नीरा के नयनों से निर्मलता का नीर बहने लगा।

राधा

चायना सिल्क का कमीज तथा पोपलीन का कोट पहन कर जिस समय रामा कलकत्ते से अपने गाँव आया, उस समय गाँव के निवासी उसकी ओर उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से देखने लगे। रामा की रहन-सहन इस समय सरदारों जैसी थी। विलायत में बनी हुई गोल्ड-फ्लेग सिगरेट का कश खींच कर गुल झड़ाने की गर्ज से जिस समय वह चुटकी बजा देता, तब सब लोग आश्चर्य-चकित हो जाते। वह सिर पर न टोपी पहनता न साफा बाँधता। बड़े-बड़े बालों में सुगन्धित तेल डाल कर उन्हें टोपी जैसे उसने सर पर जमा लिये थे। बढ़िया रेशमी रूमाल से जब वह बार बार चेहरे का पसीना पोंछता तब उस रूमाल में लगे हुए लवेण्डर की मस्त सुगन्ध चारों ओर फैल जाती। और जब वह पटेल की पोर में बैठ कर चित्रों के चलने, बोलने की असम्भव बातो को सम्भव ही नहीं, वरन् स्वयम् देखने का विश्वास दिलाता, तब तो सब अवाक् रह जाते। उसके इस ऐश्वर्य को देख कर उस गांव के निवासी तो उसे असाधारण मनुष्य समझने लगे थे। सब उसकी खुशामद करते। रात-दिन कलकत्ते की बातें पूछा करते। वह भी स्वर्ग-दूत की भाँति कलकत्ते की तारीफ करने में कोई कसर उठा न रखता था। किन्तु उसकी बातों पर सब से अधिक प्रभावित हुआ किसना। जब से रामा आया है, वह उसकी प्रत्येक बात का मानों अध्ययन कर रहा हो। किसना रामा का बचपन का साथी है। दोनों में उस समय बहुत प्रेम था। किन्तु आज, आज तो रामा उसकी ओर देखता भी नहीं है, किसना बहुत चाहता है कि रामा के इस ऐश्वर्य का अभिनन्दन करे, किन्तु रामा का तेज देख कर उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है।

आज बड़े साहस के साथ उसने रामा से कहा—'भैया क्या हमें

भूल गये। जब से आये, हम गरीबों की बात भी नहीं पूछी।'

इस खुशामद से रामा ने आनन्दित हो कर कहा—'मैं तुम्हें भला कैसे भूल जाता। तुम तो मेरे खास आदमी हो, तुम से एकान्त में बातें होतीं। तुमको मैं औरों जैसा थोड़े ही समझता हूँ, तुम मेरे भाई जैसे हो।'

किसना ने मानों स्वर्ग का राज पा लिया हो। उसकी आँखों में आनन्दाश्रु आ गये। उसने गद्‌गद् स्वर में कहा—'तुम सच्चे मित्र हो। हम गरीबों को नहीं भूले......।'' आवाज रुक गई, क्योंकि गला भर आया था।

रामा ने उसकी पीठ पर हाथ रख कर कहा—'भाई यह गरीबी एक दिन में दूर हो सकती है।'

'कैसे' किसना ने अचानक कह दिया।

'तुम मेरे साथ कलकत्ते चलो। और मेरे जैसे धनी बन कर मजे उड़ाओ।'

किसना ने चिन्तित स्वर में कहा—'किन्तु भाई मुझे वहाँ कौन नौकरी देगा ? मुझे वहाँ कौन जानता है।'

'अजब पागल आदमी हो। अरे भाई, मैं जो हूँ। मेरे साथ। चलो। मैं तुम्हें नौकरी दिला दूंगा। जिस मिल में मैं नौकरी करता हूँ, उसी में तुम्हें भी नौकर करा दूंगा।'

'तुम कब जाओगे।'

'परसों।'

'तो मैं तुम्हारे साथ चलूं, या बाद में जब तुम्हारी चिट्ठी आये।'

'यह तुम्हारी मर्जी है। चाहे तो साथ ही चलो।'

किसना गम्भीर हो गया। रामा दूसरे काम का बहाना कर वहाँ से चला गया। कितनी ही देर तक किसना वहाँ विचार-मग्न खड़ा था। जब वह घर आया, तब भी वह चिंतित ही था। उसकी पत्नी ने

उसकी गम्भीरता को भङ्ग करते हुए कहा—'आज कितनी देर कर के लौटे हो। मैं तो बाट देखते-देखते थक गई। किस विचार में हो।

किसना ने गम्भीरता से कहा—राधा, क्या तुम धनी होना नहीं चाहती। मैं तो अब इन रूखे टुकड़े और फटे कपड़ों से उकता गया हूँ।'

'राधा ने बीच ही में कहा—'किन्तु करें क्या ? भाग्य में तो यही बदा है। क्या हम भी एक दिन धनी नहीं थे। वे दिन न रहे, यह दिन भी न रहेंगे।

'नहीं राधा' किसना ने उत्तेजित हो कर कहा—'मैं तो अब इस दरिद्रता को एक मिनट भी नहीं सह सकता। यों रोते रहने से तो हम जन्म भर रोते ही रहेंगे।'

राधा ने सरल भाव से कहा—'तो एक हल की खेती और बढ़ालो।'

'भाड़ में जाय तुम्हारी खेती। किसना ने चिढ़ कर कहा—'खेती, खेती। खेती ने ही हमारा सत्यानाश किया है। दाने-दाने को मोहताज हो रहे हैं खेती वाले। जमीदार की मार, बनिये की फटकार, सरकार की बेगार सहते-सहते हम ऊब गये हैं। आखिर हम भी मनुष्य हैं। हमें भी हृदय है। हम निरे पशु नहीं हैं, जो...।'

राधा ने बीच ही में कहा—'किन्तु खेती करना ही तो हमारा काम है।'

किसना ने कहा—'देखो राधा तुम इस तरह मुझे न चिढ़ाओ। मैं तो अब खेती-वेती को लात मार कर यहाँ से जाना चाहता हूँ। चाहो तो तुम चल सकती हो।

'कहाँ'

'कलकत्ते'

अब राधा की समझ में सारी परिस्थिति आ गई। उसने कहा—

'देखो किसी की बातों में आकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी न मारो। कोई भी काम सोच-विचार कर करना चाहिये।

'मुझे तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं, मेरा निश्चय हो चुका।

राधा ने फिर कहा—'तुम कलकत्ते तो जाओगे, लेकिन रेल के भाड़े के लिये रुपये कहाँ से लाओगे।'

'मौरूसी जमीन और बैल बेच दूंगा।'

'देखो पीछे पछताओगे। रामा की मीठी बातों में आकर तुम अपना सर्वनाश कर रहे हो। जानते हो न, यह रामा कौन है?'

'सब जानता हूँ, किन्तु अब रामा, वह रामा नहीं रहा। आया है तब से इधर एक दिन भी नहीं आया। अब तो वह पिछली बातें भूल गया है। नहीं तो मेरे यहाँ रोज चक्कर काटता।'

राधा के बात जँच गई। क्योंकि सचमुच रामा किसना के घर नहीं आया था। उसने मन-ही-मन सोचा—'मनुष्य की बुद्धि पलट भी तो जाती है।'

किसना ने राधा पर अपना प्रभाव होते देख कर कहा—'तो फिर राधा, तुम्हारा क्या विचार है? रामा ने मुझे विश्वास दिलाया है कि कलकत्ता पहुँचते ही तुम्हें नौकरी दिला दूंगा।'

राधा ने अपने भाव से कहा—मेरा तो जी नहीं चाहता। मेरी छाती धड़क रही है। मैं तो इस रूखी-सूखी में ही प्रसन्न हूँ। तुम्हारे साथ रह कर मुझे क्या चाहिये।

'तो तुम यहीं रहो।'

राधा ने बीच ही में कुछ ऊँचे स्वर में कहा—

'नहीं-नहीं, मैं अकेली नहीं रह सकती। मैं तो छाया की भाँति तुम्हारे साथ रहूँगी। माता सीता भी तो सुख का राज्य छोड़कर भगवान रामचन्द्रजी के साथ चली गई थीं।'

किसना ने हँस दिया। दोनों की आँखें प्रेम की मस्ती से सराबोर हो गईं।

(२)

कलकत्ते आने पर रामा ने किसना को बीस रुपये की नौकरी अपनी ही मिल में लगा दी। परदेश में अपने गाँव का शत्रु भी मित्र बन जाता है, फिर रामा ने तो किसना पर उपकार किया था। रामा के उपकार के भार से उसका हृदय दब गया था। एक दिवस जब रामा अपने गांव में रहता था, तब राधा के पीछे पागल था। और जब राधा ने किसना से विवाह कर लिया, तब रामा निराशा से इतना व्यथित हुआ कि उसने वह गाँव ही छोड़ दिया। अब की वह आठ वर्ष में अपने गांव आया था। राधा को भूल-सा गया था। किन्तु कलकत्ते आने पर रामा, किसना और राधा एक कुटुम्ब की भाँति रहने लगे। अतीत की बातें मानों भुला दी गई हों। रामा ने अपने पास ही एक क्वार्टर उन्हें दिला दिया था।

कलकत्ते आने के लिए रोकने वाली राधा अब देहात जाना नहीं चाहती। और जब किसना उसे देहात चलने के लिये मजाक में कहता तब राधा मुस्करा देती। किसना देखता—उसकी आँखों से मोतियों की वर्षा हो रही है। मुख से फूल झर रहे हैं।

एक दिवस रामा ने किसना से कहा—'भैया चलो जरा शहर घूम आयें। रामा के शब्दों का प्रतिकार अब सम्भव न था। किसना साथ हो लिया। दो तीन साथी और हो गये। सब ने अमीरों जैसी पोशाक पहिनी थी।

रात के बारह बजे तक जब किसना नहीं लौटा। तब राधा चिंतित हो गई। अनेक दुविधाओं से उसका हृदय टूक-टूक हो रहा था। रामा के प्रति अविश्वास की भावनाएँ उसके हृदय में उत्पन्न हो गई। एक घण्टा और व्यतीत हो गया। अब तो वह रोने लगी। इसी समय

बाहर से रामा ने पुकारा 'भाभी'। आवाज रामा की है। राधा एक बार ठिठकी। रामा उसे इतनी रात को क्यों बुला रहा है। कुशंकाओं के द्वन्द्व-युद्ध में वह द्वार नहीं खोल सकी। रामा ने फिर पुकारा—'भाभी दरवाजा जल्द खोलो। किसना भैया की तबियत खराब है।' राधा को फिर भी विश्वास नहीं हुआ। वह दरवाजा खोलने का साहस न कर सकी। अब रामा ने क्रोध से कहा—'भाभी क्या सुनाई नहीं आता? तुम द्वार न खोलोगी तो मैं भैया को अपने कमरे में ले जाऊँगा।' डरते-डरते राधा ने द्वार खोल दिया। उसने देखा किसना की एक बांह रामा ने व दूसरी उसके मित्र ने पकड़ी है। उसका मुख बायें कन्धे की ओर लटक गया। रामा ने उसकी ओर देखकर कहा—'भाभी, सिनेमा में गरमी के कारण इन्हें गश आ गया है।' शराब की बदबू सारे घर में फैल गई थी। राधा ने समझ लिया कि रामा सरासर झूठ बोल रहा है। रामा और उसका साथी किसना को वहीं छोड़कर चले गये।

राधा जब किसना के पास बैठकर उसके मुख की ओर झुक कर देखने लगी, तब किसना के मुख से दुर्गन्ध फूट पड़ रही थी। वह उस दुर्गन्ध से एक बार सिहर उठी। किसना ने दारू पी है। उसके पति ने दारू पी है। उसके देवता ने दारू पी है। उसके एकमात्र आधार ने दारू पी है। राधा रो उठी। उसका रोम-रोम क्रन्दन कर उठा।

सुबह दस बजे किसना को होश आया। तब भी राधा उसी के पास बैठी थी। किसना ने लज्जा से दूसरी ओर मुँह फेर लिया। राधा ने उसको होश आते देख पूछा—'क्यों अब तबियत कैसी है?'

किसना ने कोई उत्तर नहीं दिया। दोनों हाथों से मुँह को छिपा लिया। राधा ने उसकी इस अवस्था को लक्षित करके कहा—'क्यों, क्या तुम मुझसे रूठ गये। बोलते क्यों नहीं?'

राधा के इन शब्दों ने किसना को रुला दिया। उसने कम्पित स्वर

में कहा—'राधा प्यारी, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। मुझसे बहुत बुरी भूल हो गई। कल मैंने दारू पी। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं राधा, मैंने स्वयं अपनी इच्छा से दारू नहीं पी। मुझे रामा ने मजबूर किया। वह नाराज होने लगा। मैं उसके उपकारों का बन्दी था। उसे नाराज करने की कृतघ्नता मैं नहीं कर सका।

देखो मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि रामा के कहने में न आओ। किन्तु आप कब मानने वाले थे। आपको तो कलकत्ते से प्रेम हो गया था......!

किसना ने बीच ही में कहा—'किन्तु उसने हमारा बुरा क्या किया ? वरन् अच्छा ही किया है। बीस रुपये माहवार उस कङ्गाल देहात में कब मिलने वाले थे। तुम जानती हो राधा, साल भर कड़ी मिहनत करने पर, रक्त का पसीना बना देने पर, खेती की सारी उपज बेच देने पर तब कहीं बड़ी मुश्किल से १०-२० रुपये नजर पड़ते थे। रहा सवाल दारू पीने का, तो यह मेरा कर्तव्य है कि मैं दारू न पिऊं ! मैंने क्यों दारू पी ? हजार रामा ने कहा !'

राधा के भी बात जंच गई। फिरभी उसने कहा—'तो अब आयन्दा क्या विचार है ? क्या रोज दारू पीने की ठान ली है ?

नहीं, नहीं राधा, अब कभी न दारू पीऊंगा !

मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं। यह राक्षसनी जिसके मुँह एक बार लग गई, यह मायाविनी जिसे एक बार अपने मोह-जाल में फंसा लेती है, उसका सर्वनाश करके ही मानती है। यह गले का हार बन कर मनुष्य को मनुष्यता से च्युत कर पशु बना देती है।'

तो क्या राधा, तुम मुझे इतना दुर्बल समझती हो। मैं तुम्हारी शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से फिर कभी दारू न पीऊंगा।

(३)

चार दिन तक किसना कहीं नहीं गया। रामा भी उसके यहां नहीं

आया। वह अब अपने इस बीभत्स रूप को लेकर राधा के सम्मुख जाने में हिचकता है, डरता है।

उस दिन इतवार की छुट्टी थी। किसना कुछ पैसे साथ लेकर बाजार जा रहा था। जब वह रामा के कमरे परसे गुजरा तो रामा ने पुकारा 'आओ भैया।' किसना में इतनी हिम्मत कहां जो नहीं कर सके। चुपचाप यांत्रिक पुतले की भांति वह रामा के पास जाकर बैठ गया। दो-तीन मित्र और भी थे, उसी दिन के। रामा कुछ नहीं बोला किन्तु एक ने कहा—'भाई किसना, तुमने तो आना ही छोड़ दिया, क्या इतने नाराज हो गये।'

किसना का मुख अवनत हो गया। न आने का कारण वह उन्हें कैसे बताये। शहर मे रहने वाले उन धूर्तों ने किसना के भाव ताड़ लिये। दूसरे ने कहा—'श्रीमती जी ने इन्कार कर दिया होगा।'

किसना जैसे अव्यवस्थित हो गया। अब की रामा ने अपनी आंखें किसना के मुख पर गड़ाकर कहा—'क्यों भैया क्या भाभी ने मेरे यहाँ आने से तुम्हें रोक दिया?' किसना ने अनुभव किया—रामा के शब्दों में कातरता स्पष्ट है। वह कोई उत्तर न दे सका। सिर्फ इतना ही कह सका—'नहीं......तो'......।

'नहीं भाई तुम मुझ से छिपाते हो। जरूर ही भाभी ने तुम्हें यहाँ आने से रोक दिया है। नहीं तो क्या मैं तुम्हें नहीं जानता? तुम नहीं जानते किसनलाल मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ?'

किसना को अपने आप पर लज्जा हो आई। वह जमीन की ओर देखने लगा।

एक मित्र ने कहा—'रामलाल, तुम्हें याद होगा जिस दिन प्रथम बार तुम्हारे साथ गया था, उस दिन हमारे घर भी बड़ा नाटक हुआ। मैंने बहुतेरा समझाया वह न मानी। लातों के देव बातों से थोड़े ही मानते हैं। उस दिन मैंने जूतों से पूजा की। यहाँ औरतों से दबने

वाले नहीं हैं।

सारे-के-सारे एकदम खिलखिलाकर हँस पड़े। किसना का मुख लज्जा से आरक्त होकर म्लान हो गया। रामा ने गम्भीर होकर कहा—'नहीं भाई किसनलाल, अगर भाभी का दिल दुखता हो तो तुम मेरे यहाँ न आया करो।'

किसना कुछ नहीं बोला। ऊपर देखने तक का उसमें साहस न रहा। वह सोच रहा था 'सच तो है राधा का मुझपर इतना दबाव क्यों? जब मैं उसके सुख के लिये कोई कसर उठा नहीं रखता हूँ, तब उसे भी मेरे सुख की ओर देखना चाहिये। दिन भर काम करने पर थकान मिटाने के लिये थोड़ी पीली तो हर्ज ही क्या है। क्या मैं नितान्त उसी का होकर रहूं। जगत से ही सम्बन्ध तोड़ दूँ।' इसी समय रामा ने अपने मित्रों की ओर देखकर कहा—'चलो भाई, समय व्यर्थ ही जा रहा है।'

सारे-के-सारे उठ खड़े हुए। किसना के पाँव का रक्त-प्रवाह मानों शिथिल पड़ गया हो। वह अपने घर की ओर नहीं मुड़ सका। मन्त्र-मुग्ध की भाँति किसना रामा के पीछे-पीछे चला जा रहा था।

दो पहर के चार बजे से गया हुआ किसना जब रात के दस बजे तक नहीं आया, तब सारी परिस्थिति राधा की समझ में आ गई। आज उसने भोजन नहीं किया और चूल्हे के पास ही लेट गई। द्वार खुला ही रह गया था। रात के १ बजे किसना घर आया। बाहर से ही चिल्लाया—'राधा-ओ-राधा।' राधा जग पड़ी दौड़ी हुई बाहर आई, उसने देखा—किसना के पाँव लटपटा रहे हैं। वह गिरता-सम्हलता अन्दर आ रहा है। किसना उसे देखते ही लड़खड़ाती जबान से बोला—'क्यों-ह-रा-म-जादी—कहाँ-च-ली-गई-थी-ते-रा-बा-प-ची-ज—बस्त-ले जाता—तो——।

राधा ने समझ लिया, आज रङ्ग निराला है। उसने शान्ति से

कहा—'मैं तो तुम्हारी बाट देखती हुई चूल्हे के पास बैठी थी। जरा झपकी आ गई तो वहीं लेट गई थी। तुम इतनी रात तक कहाँ घूम रहे थे।

'तो क्या मैं तेरा नौकर हूँ जो रात-दिन तेरी ही खिदमत किया करूं ?'

एक-एक अक्षर बड़ी मुश्किल से वह कह सकता था।

'तुमने फिर आज दारू पी है। मेरे नाथ! तुमने मेरी कसम.....।'

कस—म की—ब—ची ज्यादा—बक—वा-द-न-कर-नहीं-तो-हाँ।

राधा ने देखा, किसना आज पशु हो रहा है। भावी आशङ्काओं से उसका हृदय टूक टूक हो रहा था। उसने कम्पित स्वर में कहा—'देखो तुम दारू न पिया करो, नहीं तो मैं मर जाऊँगी।'

किसना एक-एक शब्द कह रहा था—'मरती है तो मर अभी मर। तेरा बाप मुझे पैसे नहीं देता। जो तू मुझे दारू पीने से रोकती है। मैं मिहनत करता हूँ। कमाता हूँ। उड़ाता हूँ।'

राधा ने कहा—'देखो तुम मेरे पिता जी को बार-बार क्यों कोसते हो। तुम को कुछ कहना हो मुझे कहो। मारो, ठोको, चाहे जो करो। किन्तु पिता जी की शान में कुछ न कहो, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।'

किसना ने तड़ से एक चांटा उसके जड़ दिया। आज सारी रात वह गालियाँ बकता रहा। राधा चुपचाप एक कोने में बैठी प्राप्त परिस्थिति की भयानकता पर, भयभीत हो आँसू बहाने लगी।

(४)

किसना अब अच्छे-अच्छे पियक्कड़ों को भी मात करने लगा। रात दिन वह शराब पीता। २४ घण्टे नशे में बेहोश रहने के कारण मिल में उसका काम समय पर और अच्छा नहीं होता था। मैनेजर ने उसे तीन-चार बार जतलाया कि देखो किसना काम के समय नशा न किया करो। किन्तु किसना की बुद्धि इस समय दारू ने भ्रष्ट कर दी

थी। उसके हित की कहने वाला भी उसे शत्रु प्रतीत होता। उसे किसी की फिक्र नहीं रह गई थी।

आज उसे नोटिस भी मिल गया है कि, अगर तुम अपना आचरण दुरुस्त न करोगे तो नौकरी से अलग कर दिये जाओगे। फिर भी किसना होश में नहीं आया। उस नोटिस के पढ़ने पर उसने रामा से कहा—'देखा रामा यह मैनेजर भी अजब गधा आदमी है। मैं दारू पीता हूं अपनी हिम्मत पर और मैं दारू न पीऊँगा तो १२ घण्टे काम करने की ताकत कहाँ से पाऊँगा। किन्तु रामा, अगर उसने मुझे नौकरी से अलग कर दिया तो।' रामा ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'कल मैं मैनेजर से कह दूँगा। अगर उसने न माना तो मालिक से अर्ज कर के तुमको फिर नौकरी दिला दूँगा।' किसना ने कृतज्ञता भरी आँखों से रामा की ओर देखकर कहा—'तुम तो प्रत्यक्ष देवता हो।' रामा ने हँस कर कहा—'नहीं भाई, मैं तो तुम्हारा भाई हूँ।'

किन्तु उसी दिन मैनेजर से किसना का झगड़ा हो गया। रामा की ठसक में किसना ने मैनेजर को गालियाँ तक दे दी। मैनेजर ने उसे नौकरी से अलग कर दिया। किसना राह का भिखारी हो गया।

एक मास व्यतीत हो गया। राधा ने जो थोड़ा रुपया बचा पाया था, वह भी समाप्त हो गया। उसकी अवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई। वह रात-दिन चक्की पीसती! और थोड़ा-बहुत कमा लेती पर उसे भी किसना ले जाता और दारू पीता। आज घर में अन्न का दाना भी नहीं है। प्रातःकाल से उन दोनों ने खाया भी नहीं है। संध्या के सात बज गये हैं। किसना दारू पीने के लिये उससे रुपये माँग रहा है। राधा के लाख नाहीं करने पर भी उसे विश्वास नहीं होता। उसने राधा को खूब मारा, और गालियाँ देता हुआ बाहर निकल गया। रामा के पास जाकर उसने कहा—'भाई, अब क्या करूँ? घर में एक पैसा भी नहीं रहा है। अनाज नहीं है। भूखे बैठे हैं, क्या करें?' देहात में

रहने वाला स्वाभिमानी किसान आज अपना सम्मान खो बैठा है। दारू ने उसका स्वाभिमान, मनुष्यता सब पर पानी फेर दिया। आज अगर वह देहात में होता तो मर जाता किन्तु किसी से याचना न करता।

रामा ने झट से पाँच रुपये निकाल कर उसे देकर कहा—'इन्हें ले जाओ और भाभी को दे दो और देखो इनका अनाज ही लाना। किसना ने झट से रुपये ले लिये। रुपये लेकर वह घर नहीं गया। सीधा शराबखाने पहुँचा। किन्तु शराब के ठेकेदार को उसे २०) देने हो गये थे। उसने किसना से ५) रु० शराब के ले लिये और शराब नहीं दी। किसना गालियाँ देने लगा, तब ठेकेदार ने उसे कान पकड़ कर निकलवा दिया। किसना अपमान से जल उठा। अपने जीवन में आज सब से पहला यह समय था, जब कि इतना कड़ा अपमान उसने सहा था। आज अगर किसना किसान होता तो कितनी ही लाशें बिछ जातीं। अपमान से जलता-भुनता वह घर की ओर लौट पड़ा।

उधर रामा ने किसना को बिदा किया। समाधान की रेखाएँ उसके मुख पर उदित हो उठीं। वह चुपचाप किसना के पीछे-पीछे चलने लगा। उसने अनुमान किया था कि, किसना घर नहीं जायगा और हुआ भी ऐसा ही। उसे बाजार की ओर मुड़ते देख रामा के मुख पर संतोष पूर्ण मुस्कराहट नाच उठी। वह किसना के घर की ओर चल पड़ा। जब वह किसना के घर पहुँचा, उस समय राधा रो रही थी। रामा ने उसके बिलकुल निकट जाकर पुकारा 'राधा।'

राधा चौंक पड़ी। अस्तव्यस्त कपड़ों को ठीक-ठाक करके वह घूँघट काढ़कर एक ओर खड़ी हो गई। रामा ने कहा—'राधा, तुम रो रही हो।'

'नहीं तो मैं क्यों रोऊँ?'

'नहीं राधा तुम मुझ से झूँठ बोल रही हो। तुम्हारा स्वर मुझ से

चुगली कर रहा है कि अभी-अभी तुम रो रही थीं।'

अब की राधा ने एकदम कह दिया—"हाँ, मैं रो रही थी तुम्हें इससे क्या? मैं अपने घर में रोऊँ, हँसू, तुम पूछने वाले कौन होते हो?"

रामा ने हँसकर कहा—'राधा, आज वह समय मुझे याद आ रहा है, जब दस वर्ष पूर्व मैं तुमसे प्रेम-याचना करता था और तुम मुझे इसी तरह झिड़क दिया करती थीं। वह बाल-स्वभाव अभी तक तुम में मौजूद है। वह तुम्हें अब शोभा नहीं देता। राधा तुम नहीं जानती, मैं तुम्हें कितना प्रेम करता हूँ।'

तुम, तुम मुझ पर प्रेम करते हो यह झूँठ है। तुम मुझ पर प्रेम करते होते तो मेरे सुखपूर्ण संसार का सत्यानाश नहीं करते। तुमने मेरे देवतास्वरूप पति को मनुष्यता से भी गिरा दिया। तुम मुझ पर प्रेम नहीं करते। मैं तुम पर प्रेम नहीं करती।

'यह मैं जानता हूँ......'

राधा आवेग में बीच में ही बोल उठी—'फिर तुम मुझे सताने क्यों आये? तुम जानते हो कि मैं पराई .....।'

बीच ही में रामा निर्लज्जता से बोल उठा—'किन्तु मैं तुम्हें पराई कब समझता हूँ रानी! मैं तुम्हें अपनी समझता हूं अपनी। आज से नहीं बचपन से, जब तुम हम खेला करते थे। तब से तुमको हृदय-मंदिर में विराजित कर तुम्हारी रात दिन पूजा किया करता हूँ राधा! इन दस वर्षों में मैं तुम्हें एक क्षण भी नहीं भूल सका हूँ। जगत में मैंने किसी पर प्रेम किया है, तो तुम पर, मैं तुम पर प्रेम करता हूँ। दिलोजान से प्रेम करता हूँ।'

राधा ने तनक कर कहा—'तुम बिलकुल झूठ बोल रहे हो। तुम्हारा मुझ पर तनिक भी प्रेम नहीं है। जिसे तुम प्रेम समझ रहे हो, वह है मेरे सुन्दर शरीर की अभिलाषा। मेरे मनोहर रूप के नशे की

बेहोशी ने तुम्हारे हृदय पर पर्दा डाल दिया है। जिससे तुम प्रेम के पवित्र रूप को देख नहीं पाते। तुम्हारे हृदय में उन्माद है, गम्भीरता नहीं। तुम्हारी आँखों में मादकता है, संयम नहीं। तुम्हारे शरीर में उत्तेजना है, शान्ति नहीं। तुम अभी कह रहे थे कि हृदय-मन्दिर में राधा की मूर्ति विराजित है, उसकी रात-दिन पूजा किया करता हूँ। जाओ उसी निराकार राधा की उपासना करो, तभी प्रेम की सार्थकता होगी। साकार राधा के पास आकर प्रेम की विडम्बना न करो।'

इसी समय किसना द्वार पर आ गया था। रामा अन्दर जाते समय द्वार लगाना भूल गया था। किसना ने सुना अन्दर कोई बातें कर रहा है, वह वहीं ठिठक गया और सुनने लगा। उस समय राधा बोल रही थी। भाषण स्पष्टतया सुनाई पड़ रहा था। उसका कुतूहल बढ़ा, और वह सचेत होकर सुनने लगा।

रामा ने कहा 'राधा तुम जानती हो, मैं कौन हूँ ?'

'बाह्य संसार में हमारे सुखपूर्ण संसार को धूल में मिला देने वाले शैतान। अन्तर्जगत में एक सती का सतीत्व नष्ट करने वाले राक्षस।'

'चुप रह राधा—'

राधा ने तेजी से कहा—'किसे कह रहे हो राधा। चले जाओ यहाँ से—'

यहाँ से जाऊंगा, रहने के लिये थोड़े ही आया हूँ किन्तु तुमको अपनी बना कर—।'

अब सारी परिस्थिति किसना के समझ में आ गई। उसने फिर सुना राधा कह रही है—'राधा जीते जी तुम्हारी नहीं हो सकती—नहीं हो सकती।'

रामा कुटिलता से हँस पड़ा। उसने कहा—'राधा इस क्रोध के अभिनय से तुम कितनी सुन्दर दीखती हो। आओ प्यारी आओ—। वह उसके निकट जा रहा था। राधा चिल्लाने लगी—'दौड़ो भगवान

दौड़ो—हाय नाथ स्वामी दौड़ो—'

रामा ने मनुष्यता को तिलांजलि देकर निर्लज्जता से कहा—'भगवान् तो पत्थर बने मन्दिर में बैठे हैं। तेरा स्वामी किसी गटर में पड़ा मल-मूत्र कीचड़ का स्वाद ले रहा होगा। अब तेरा नाथ मैं हूं, तेरा स्वामी मैं हूँ, तेरा भगवान मैं हूँ, तेरा सर्वस्व मैं हूँ।'

इसी समय किसना बिजली जैसा तड़प कर अन्दर चला गया और रामा को एक लात मार कर बोला—'और तेरा काल मैं हूँ।'

पापी मनुष्य का हृदय कमजोर होता है। दुर्बलता उसकी विशेषता है। रामा का साहस गलित हो गया। वह नत-मस्तक हतप्रभ हो गया। किसना ने कहा—'भाई अब मैं तुम्हारे असली स्वरूप को समझ गया। रामा तुमने मेरे सुखपूर्ण जीवन मे विष घोल दिया। हाय, हाय मेरी सुन्दर बैल जोड़ी—मेरी सोने सी जमीन अब कहाँ पाऊँगा। मैं तो राह का भिखारी बन गया हूँ किन्तु मैं तुम्हें दोष क्यों दूँ। मैं ही तुम्हारी घटोत्कची माया में फँसा।'

रामा ने तिलमिला कर कहा—'तुमने बहुत बुरा किया किसना, क्या मेरे उपकारों का यही प्रतिदान था। मैं तो भाभी की परीक्षा ले रहा था।'

राधा चिल्ला पड़ी—"पापी शर्म कर, अब अपने हृदय के साथ तो विश्वासघात न कर।"

रामा जमीन की ओर देखता हुआ चला गया। उसके जाने के उपरान्त किसना ने कहा—'राधा प्यारी! मैं तुम्हारा अपराधी हूँ।'

राधा ने कहा—'तुम ऐसी बातें न किया करो। मैं तो तुम्हारी दासी हूँ। किन्तु आगे अब क्या सोचा है, अपने गांव चले चलो। अब यहाँ रहना ठीक नहीं।'

किसना ने कहा 'तुम ठीक कहती हो, किन्तु अब जमीन और बैल कहाँ से मिलेंगे कितने सुन्दर बैल थे। राधा! अपनी जमीन भी

बिलकुल काँच के टुकड़े जैसी थी।'

राधा ने कहा—'चलो, परमेश्वर सब पार करेगा। सब उसी को फिकर है।'

प्रातःकाल पांच बजे राधा आगे-आगे और पीछे-पीछे किसना चल रहा था। मानों उषा के पीछे-पीछे अरुण मुस्कराता चला जा रहा हो।

नारी-हृदय

[१]

पैंतालीस वर्ष की अवस्था में पत्नी का सुरलोक सिधार जाना जगन्नाथ बाबू को बहुत अखरा। रात-दिन उन्हें पत्नी की याद सताती रहती। गत जीवन के आमोद-प्रमोद की स्मृतियाँ चित्रपट की भाँति उनके हृत्पट पर सञ्चालित होतीं, और वह आकुल हो उठते।

जगत् में मोहक आकर्षण का सूत्र है। यही आकर्षण मनुष्य की पीड़ाओं को विस्मृति में परिणत करता रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्हें शनैः-शनैः पत्नी की विस्मृति होती गई। अन्त में पत्नी के सहवास काल की एक अस्पष्ट छाया-मात्र उनके हृदय में रह गई, और वह नित्य के व्यवहार में संलग्न हो गये। तूफान के आगमन से रुद्र रूप धारण करने वाला सागर तूफान समाप्त होने पर फिर शान्त हो जाता है। यह भी तो प्रकृति का साधारण नियम है।

जगन्नाथ बाबू के पुत्र का नाम था सुरेंद्र। वह बी० ए० में पढ़ता था। स्वस्थ, सुन्दर, सुदृढ़, हँसमुख और कान्तिमान् नवयुवक था। कितनी ही छात्राएं उससे बोलने के लिये—प्रेम-सम्पादन के लिये—लालायित रहतीं, किन्तु सुरेंद्र स्त्रियों से अधिक बोलना पसन्द न करता था। कॉलेज में वह अधिकतया किसी से बोलता था, तो लीला से। उससे बोलते समय वह अपनापन भूल जाता। लीला में सौंदर्य विशेष था। उसकी बड़ी-बड़ी, काली, करुणामयी आँखें। इन्हीं आँखों के पीछे वह पागल था। वह उनमें जीवन की पूर्णता का आभास पाता और जब लीला अपनी इन्हीं जादू-भरी आँखों से सुरेंद्र की ओर देखती, तब उसका संयम सूम के धन की भांति लुट जाता, मुग्ध होकर उसकी ओर देखता ही रहता। तब लीला मुस्करा देती। सुरेंद्र का

हृत्कमल खिल उठता। दो हृदय एकाकार होना चाहते थे, किन्तु मानव-जीवन के सूत्रपात में एक गूढ़ रहस्य है। वह रहस्य भविष्य के परदे में छिपा न होता, तो जगत् सार-हीन हो जाता, ईश्वरीय शक्ति पर मानवता विजय पा जाती।

आज तीन दिन से लीला कॉलेज नहीं आई। सुरेंद्र असमञ्जस में पड़ गया है। उसकी आँखें लीला को खोजती रहतीं। किन्तु आज जब लीला का त्याग-पत्र आया, तब तो सुरेंद्र का मुख पीला पड़ गया। हृदय में ठेस लगी। आंखों में आंसू आ गए, मानो जीवन को सफल बनाने का साधन खो गया हो, संसार सूना हो गया हो। जिस प्रेम-पथ का वह प्रवासी बनना चाहता था, उस पर किसी ने काँटे बिछा दिए हों। निराशा विभीषिका बन कर डराने लगी।

रात के आठ बज गए थे। सुरेंद्र लीला के विचार में मस्त अन-मना-सा अपने कमरे में बैठा था। एक नौकर ने आकर कहा—"लल्ला, पिता जी आप को याद कर रहे हैं।"

सुरेंद्र पिता के कमरे में उपस्थित हुआ। जगन्नाथ बाबू ने कहा—"बैठो बेटा!" उन्होंने अपने उद्देश्य का श्रीगणेश करते हुए धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—"सुरेंद्र, उसे मरे बारह महीने हो गए हैं।" कहते-कहते उनकी आंखों में आंसू आ गए। स्नेहमयी माता की याद आते ही सुरेंद्र की आंखें भी छलछला आईं। आंसू पोंछ कर जगन्नाथ बाबू ने कहा—"न रोओ मेरे लाल, तुम देख रहे हो सुरेंद्र, कि एक वर्ष में ही घर की कितनी दुरवस्था हो गई है। नौकर, नौकर ही ठहरे। ख़र्च दिनों दिन बढ़ रहा है। पहले-जैसी कमाने की ठपक अब मुझ में नहीं रही। और वह गई है, तब से मैं भी बीमार-सा रहता हूं। तुम पढ़ने में रहते हो, मेरी ओर देखने का तुम्हें अवकाश कहां। दवा-दारू करने वाला भी तो घर में होना चाहिए।" इस लम्बी भूमिका के बाद एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर, उन्होंने कहा—"इन सारी अड़चनों को

नाम-शेष करने के लिये मैंने विवाह करने का निश्चय कर लिया है।"

सुरेंद्र ने कहा—"किन्तु मैं तो जब तक एम० ए० न हो जाऊँ, विवाह नहीं करूँगा।"

"तुम समझे नहीं सुरेन्द्र। मैं स्पष्ट ही कहे देता हूँ। हाँ, 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रमित्रमिवाचरेत्'। सुनो, मैं स्वयं विवाह कर रहा हूँ। इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है।"

कोई दूसरा वृद्ध उस से सम्मति मांगता, तो वह एक जोशीला भाषण देकर जोरों से उसका प्रतिकार करता, किन्तु पिता को ज्ञान सिखाना उनका अपमान करना था, अतएव उसने गम्भीर होकर कहा—"जब आपकी वैसी इच्छा है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

जगन्नाथ बाबू के वृद्ध चेहरे पर आनन्द की रेखाएँ उदित हो उठीं। उन्होंने आनन्दित होकर कहा—"जाओ बेटा, भोजन कर लो।"

सुरेन्द्र अपने कमरे में आकर सोच रहा था—"मनुष्य भी कितना स्वार्थी होता है। अपने स्वार्थ के पीछे उसे किसी के सुख-दुख की, मरने-जीने की क्या परवा है। मृत्यु विकराल मुँह फाड़े इनकी ओर द्रुत गति से आ रही है, किन्तु संसार के प्रलोभनों का त्याग करने की क्षमता इनमें नहीं। किस बेचारी का दुर्दैव······।"

जीवन की समस्या और भी जटिल हो गई।

[२]

यथा समय विवाह सम्पन्न हो गया। जगन्नाथ बाबू आनन्द-आलोक में विहार कर रहे थे। सुरेन्द्र यन्त्र की भाँति रात-दिन काम कर रहा था। एक दिन ऊषा के शुभ मङ्गल-प्रभात में, नववधू ने जगन्नाथ बाबू के घर में पदार्पण किया। सूना, प्रकाश-विहीन घर एक बार फिर आलोकित हो गया। जगन्नाथ बाबू के आनन्द की सीमा न रही। सुरेन्द्र के हृदय पर मानो किसी ने भारी बोझ रख दिया हो।

जगन्नाथ बाबू ने नववधू का नाम प्रेम से 'लक्ष्मी' रक्खा। वह

उसे उसी नाम से पुकारते। 'लक्ष्मी' सुरेन्द्र की लाज करती। एक दिन वह कॉलेज से घर आया। उस समय ५ बजे थे। उसने देखा, विमाता बरामदे में पुस्तक पढ़ने में एकाग्र हो रही है। वह दूसरे मार्ग से चुपचाप अपने कमरे में चला गया। परन्तु लक्ष्मी ने उसे देख लिया। एक दीर्घ निःश्वास छोड़ कर वह उठी, और मन्द गति से सुरेन्द्र के कमरे की ओर चल दी।

सुरेन्द्र विचार-मग्न-सा बैठा बालों को सँवार रहा था। लक्ष्मी ने आकर उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। सुरेन्द्र चौंक पड़ा। लीला को सम्मुख देखते ही वह आश्चर्य-चकित हो गया। उसके मुख से अचानक निकल गया—"कौन, लीला?"

"हाँ, सुरेन्द्र।"

"तुम यहाँ कैसे?"

"यह भी कोई प्रश्न है? क्या तुम नहीं जानते कि मैं तुम्हारी माता हूँ।"

"विवाह के दिन यह आशङ्का मेरे मन में उत्पन्न हुई थी। किन्तु तुम अवगुंठन में थीं, मैं तुम्हें पहचान न सका। आज वह आशंका सत्य का रूप धारण कर रही है। लीला! यह तुमने क्या किया?"

"अपना कर्तव्य, हृदय का बलिदान, जगत् का सर्वोत्तम त्याग।"

"किस लिये?"

"अपने माता-पिता के लिये, जिन्होंने मेरा पालन-पोषण करने में कोई कसर उठा न रक्खी। एक दिन वह अपने उपकारों का प्रतिदान माँगने लगे। मैंने उन्हें सर्वस्व अर्पण कर दिया, जो प्रत्येक पुत्री का प्रथम कर्तव्य है।"

"तुम तो पढ़ी-लिखी थीं। सुसंस्कृत थीं। तुम्हें उनकी ऐसी विनाशकारी आज्ञा का प्रतिकार करना चाहिए था।"

"सुरेन्द्र, यह तुम क्या कह रहे हो? मैं पढ़ी लिखी थी, मेरा मन

सुसंस्कृत था, तभी तो मैं त्याग का महत्त्व समझती थी। माता-पिता का प्रेम स्वर्गीय, पुण्यमय, पवित्रतम प्रेम है। उस अनिंद्य प्रेम पर अपने जीवन का सुख मैंने समर्पण किया है, एतदर्थ मैं अपना गौरव समझती हूँ। शिक्षा का अर्थ दिव्य ज्ञान प्राप्त करना है। भविष्य के रहस्यमय पथ को सुगम बनाने के साधन निर्माण करना शिक्षा का वास्तविक अर्थ है।"

सुरेन्द्र ने वाद-विवाद करना व्यर्थ समझा। उसने कहा—"यह ठीक है, किन्तु उन्होंने तुम्हें क्यों मजबूर किया ?"

"यह मैं नहीं बता सकती, मैं क्षमा चाहती हूँ, और बिनती करती हूँ कि इस संबंध में अधिक पूछ-ताछ न कीजिये। मैं न कहूँगी, वचन-बद्ध हो चुकी हूँ।" एक दृढ़निश्चय की आभा उसके मुख पर एक क्षण चमकी, दूसरे क्षण विलीन हो गई।

"लीला, तुम्हारे प्रथम परिचय में मेरी अनंत आशाएं अंतर्निहित थीं।"

"सुरेन्द्र, गत जीवन की स्मृतियाँ हृदय को निर्बल बना देंगी, उन्हें भूल जाओ।"

सुरेन्द्र ने उत्तेजित होकर कहा—"भूल जाऊँ कैसे ? भूल जाऊँ ? मेरे हृदय में आग सुलग चुकी है—वह आग, जिसे आज तक न कोई बुझा सका, न अब बुझा सकेगा।"

सुरेन्द्र !, लीला ने शांति-पूर्वक कहा—"हृदय में विकार उत्पन्न होना अपराध नहीं है वह स्वाभाविकता है। किन्तु उसके प्रवाह में बह जाना महान् अपराध है। अक्षम्य पाप है। उसका दमन करना चाहिये—शांति से, धैर्य से, गंभीर होकर।"

उत्तेजित सुरेन्द्र कहने लगा—"कमल पर प्राण न्योछावर करने वाले त्यागी भ्रमर से कहा जा रहा है कि कमल से प्रेम करना छोड़ दे। दीपक की अग्नि-शिखा पर शहीद होने वाले पतंग से कहा जा रहा है

कि अग्नि-शिखा से प्रेम करना छोड़ दे। तुम्हारे प्रेम-मय सहवास में जीवन व्यतीत करना जिसकी साध थी, जीवन की सारी आशाएं—हृदय की सारी भावनाएं—अंतः करण का सारा आनंद जिसने तुम्हारे चरणों पर समर्पण कर दिया था, तुम्हारी मधुर मुस्कराहट पर जिसके जीवन में उषःकालीन पवित्र आनंद उमड़ पड़ता, और तुम्हारे जरा से भृकुटि-भंग पर जिसके जीवन में दुःख के बादल मंडराने लगते, अमावस की काली रात आ जाती, तुम्हारी हंसी जिसके हृदय में आनन्द बिखेर देती, और तुम्हारी करुणा जिसे रुला देती, उसे शुष्क वैराग्य का उपदेश किया जा रहा है। जो तुझमें समा गया है, उसे विरागी बनने का उपदेश कर रही हो!"

"सुरेन्द्र, संभलो। बहे जा रहे हो हृदय के प्रबल प्रवाह के साथ। जरा गंभीरता को अपनाओ।"

"फिर वही शान्ति, फिर वही गंभीरता! लीला...लीला!" सुरेन्द्र मानो नशे में सराबोर था।

लीला ने कहा—"सुरेन्द्र, जरा होश में आओ। वह देखो, तुम्हारा मुख बोलने के लिये अपवित्र शब्द ढूँढ़ रहा है। तुम्हारी आँखों में उन्मत्त विकारों की लहरें उठ रही हैं।"

"लीला..."

लीला ने अब की डपटकर कहा—"खबरदार, एक अक्षर मुख से न निकालो। विकारों के आवेश में एक शब्द भी मुख से निकला तो हमारा पवित्र मार्ग कलंकित होकर हमारा पतन अवश्यंभावी है। सुरेन्द्र, प्रत्येक क्षण तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि मैं तुम्हारी माता हूँ, माता के रूप में तुम्हारे सम्मुख खड़ी हूँ। मातृत्व के पुण्यमय स्वरूप का अपमान मैं हरगिज बरदाश्त नहीं कर सकती। मैं क्या, कोई भी आर्य स्त्री मर जायगी, किन्तु इसे सहन न करेगी। मैं नहीं जानती थी सुरेन्द्र कि तुम इतनी दुर्बल प्रकृति के मनुष्य

हो। समझ लेना लीला का—तुम्हारी प्रेमिका का—अवतार समाप्त हो चुका है—वह मर चुकी है, और अब वह लक्ष्मी के नाम से माता के रूप में पुनर्जीवित हुई है। सुरेन्द्र, मिलन वह अवस्था है, जिसमें असीम असीम हो जाता है। विरह वह अवस्था है, जिसमें असीम की अनंतता का परिचय पाकर मानव अनंत की ओर पर फैलाए उड़ा चला जाता है। उस उड़ान में कितना सुख है? कितना आनंद! उस आनंद के सम्मुख जगत् का मोहक आकर्षण फीका पड़ जाता है माया अपनासा मुंह लेकर रह जाती है।

सुरेन्द्र ने आर्त स्वर में कहा—"लीला, मैं क्या करूं? मेरे हृदय में क्रांति मच गई है। मस्तक में घनघोर युद्ध छिड़ गया है। अंतःकरण के भयानक कोलाहल में मेरे कर्तव्य का मधुर निनाद सुनाई नहीं देता। पथभ्रष्ट हूँ, मैं पथ भूल गया हूँ। फिर भी तुम्हारी आज्ञा का पालन करूंगा। तुम्हें भूलने का भरसक प्रयत्न करूंगा तथा मातृ-रूप में तुम्हें देख सकने की शक्ति उत्पन्न करने के लिये यथेष्ट प्रयत्नशील रहूँगा।" वह सिसकियाँ भरकर रोने लगा। लीला की बड़ी-बड़ी आँखें छलछला आईं। अपने अंचल से सुरेन्द्र के आँसू पोंछकर उसने द्रवित शब्दों में कहा—"सुरेन्द्र शांत होओ। तुम तो पुरुष हो, धैर्य, शौर्य पराक्रम तथा विजय पौरुष के मुख्य गुण हैं। तुम्हें स्त्रियों की भाँति रोना शोभा नहीं देता।"

"लीला, मुझे जी भरकर रो लेने दो। आज ही मैं रोऊंगा, खूब रोऊंगा, और फिर कभी न रोऊँगा। फिर हँसूँगा, उस दिन, जब मैं अपने हृदय पर विजय प्राप्त कर लूँगा। जाओ, मुझे एकांत दो।" लीला अपने कमरे में जाकर रोने लगी। इतना रोई कि सारा अंचल गीला हो गया। उसने आकाश की ओर देखते हुए गद्गद और कंपित स्वर में प्रार्थना के शब्दों में कहा—"भगवन्, हम दोनों में पर्याप्त बल दे कि हम विजय की ओर अग्रसर हो सकें।"

कोई हंसे या रोए, किसी को सुख हो या दुःख, समय इसकी चिंता नहीं करता। किसी के दुख से दुखी होकर न उसकी गति स्थिर होती है न किसी से आनंद में उन्मत्त होकर उसकी गति चंचल होती है। प्रत्येक क्षण उसकी गति अबाधित रूप से जारी है।

जगन्नाथ बाबू के विवाह को छः मास व्यतीत हो चुके हैं। तीनों यंत्र की भाँति अपना-अपना कार्य करते हैं। लीला जगन्नाथ बाबू की सेवा में रात-दिन तत्पर रहती है। पति के प्रति होने वाले कर्तव्य में जरा भी त्रुटि नहीं होने देती। वह असंतुष्ट न हों, अतएव उनका काम बड़ी सावधानी तथा तत्परता से करती है। भूलकर भी अपनी व्यथा प्रकट नहीं होने देती। सुरेन्द्र की अवस्था अत्यंत शोचनीय हो गई है। वह किसी से न बोलता है, न कहीं जाता है। कॉलेज से आने पर घर पर ही पड़ा रहता है।

एक दिन लीला ने सुरेन्द्र के कमरे में आकर कहा—"सुरेन्द्र बाबू, यह अवस्था कब तक रहेगी ?"

"कैसी अवस्था ? मैं शांत हूँ। शांत और सुखी।"

लीला ने पीड़ित होकर कहा—"सुरेन्द्र बाबू, मैं इस शांति में व्यथा के महान् रूप का अनुभव करती हूँ। रूखे बाल, गड्ढे में धंसी हुई आँखें, पिचके गाल, उदास मुख प्रत्येक क्षण अपनी मूक भाषा में कह रहे हैं कि तुम्हारे हृदय में भयानक कोलाहल जारी है। अजेय विकारों पर विजय पाने के लिये तुमुल युद्ध मचा हुआ है। सुरेंद्र बाबू, गत जीवन की मधुर स्मृतियां जिस समय तुम्हें अपने मोह जाल में फँसाने का अट्टहास करती हैं, तुम उनका प्रतिकार करने मे अपने रक्त का एक एक बूँद अर्पण कर रहे हो।"

"हाँ, लीला बात बिलकुल सत्य है। वे स्मृतियाँ ज्वालामुखी के रूप में मेरे हृदय में निवास करती हैं। एक क्षणको भी मैं असावधान हो जाऊँ, तो वह ज्वालामुखी उबल पड़ेगी। और उसके प्रबल आवेग

में मैं, मेरे विचार, मेरी विजय तहस-नहस हो जायगी। मैं उन स्मृतियों को दबोचकर अपने हृदय पर विजय पाने की चेष्टा में रात-दिन सचेत, सावधान तथा व्यस्त रहता हूँ।"

"किन्तु सुरेन्द्र बाबू, हृदय पर विजय प्राप्त करने का यह अर्थ नहीं कि हम रोते रहें, घुलते ही रहें। विकारों के प्रबल आक्रमणों का प्रतिकार प्रसन्नता पूर्वक करके विजय सम्पादन करनी चाहिए। रोना निर्बलता है, हँसना वीरता। हँसो, खूब हँसो, और अपने मोर्चे पर अविचल रहो।"

"अभी अवकाश है लीला! मेरे हृदय-मन्दिर में लीला की मूर्ति प्रेयसी के रूप में चित्रित है, मैं उसे खुरेदकर वहाँ लक्ष्मी माता का चित्र अङ्कित करने का अभ्यास कर रहा हूँ। अभी मुझे इस महान् कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। लक्ष्मी माता का चित्र बनाते-बनाते अचानक लीला का ही चित्र बन जाता है। मैं पीड़ित हो जाता हूँ। उसे पोंछ डालता हूँ, और फिर से तुम्हें माता के रूप में चित्रित करने लग जाता हूँ, मेरा नित्य-कर्म यही है! जिस दिन मेरा यह योग, मेरी यह तपस्या पूर्ण होगी, हृदय-मन्दिर में मातृ-मूर्ति का अधिष्ठान होगा, मैं एक बालक के अल्हड़ रूप में तुम्हारे सम्मुख हँसूँगा, तब तुम मुझे मातृ प्रेम से चूम लेना। मैं अपने मार्ग से विचलित हो जाऊँ, तुम्हारा कहना न मानूँ, तुम मातृ हृदय के अधिकार से कान खींचकर मेरा गाल लाल कर देना। और लीला मैं रोने लग जाऊँ, तो लोरियाँ गा-गाकर, थपकियाँ दे देकर मुझे अपनी गोद में सुला लेना, और मातृत्व का, माता के महान् स्नेह का, परिचय करा देना।" सुरेन्द्र ने अपना हृदय खोलकर रख दिया।

लीला की आँखों से अश्रु-बिंदु झरने लगे। उसने गद्गद् स्वर में कहा— "सुरेन्द्र······।"

"तुम रो रही हो लीला, क्या मुझे उपदेश देते-देते तुम स्वयं निर्बल······।"

"नहीं-नहीं, ये मेरे आनन्दाश्रु हैं। सुरेन्द्र, तुम मानव-रूप में देव हो।"

"किंतु मेरी मार्ग-दर्शिका तो तुम हो।" अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछकर वह उसे द्वार तक पहुँचा आया। उसके मुख पर अनुपम शांति विराज रही थी। वह आज प्रसन्न था, मानो उसने बहुत बड़ी विजय प्राप्त कर ली हो।

(४)

उस दिन सुरेन्द्र ने अपना हृदय खोलकर लीला के सम्मुख रख दिया। दोनों और निकट आ गए। दोनों के बीच सङ्कोच न था। भय की जो बेड़ियाँ थीं, टूट गईं। और पहले की अपेक्षा वे अधिक हिल-मिलकर रहने लगे। घनिष्ठता बढ़ती गई। लीला सुरेन्द्र के हृदय पर विश्वास रखती, और सुरेन्द्र उस विश्वास को स्थिर रखने के लिये अपने हृदय की गुत्थियाँ सुलझाने में अधिक प्रयत्नशील, अधिक सतर्क रहने लगा।

किसी कारण-वश दो-तीन दिन से जगन्नाथ बाबू बम्बई चले गये हैं। सुरेन्द्र की तबियत अस्वस्थ होने के कारण वह अब की लीला को साथ नहीं ले गये।

एकान्त, उस पर युवती का सहवासमय एकांत हृदय में प्रबल विकारों की सृष्टि करता है। बड़े-बड़े 'शापादपि शरादपि' वीतराग योगी एकांत में सुर-सुन्दरी के प्रलोभन में आकर अपनी अमूल्य तपोनिधि गँवा चुके हैं!

एक दिवस रात के नौ बज गये थे। सुरेन्द्र भोजन कर रहा था। लीला सम्मुख बैठी पंखा झल रही थी। स्मृति-कुँज-नामक पुस्तक पर वार्तालाप हो रहा था। दोनों मुक्तकण्ठ से लेखक और पुस्तक, दोनों की प्रशंसा कर रहे थे। भोजन समाप्त हो गया। सुरेन्द्र एक आराम-कुर्सी पर लेट गया। लीला सामने, एक कुर्सी पर, बैठी पान बनाने लगी।

पान बनाकर सुरेन्द्र को दिया। सुरेन्द्र ने पान चबाकर, हँसकर कहा—'पान बहुत ही बढ़िया बना लीला, भोजन भी आज बहुत ही सुस्वादु बना था, मानो तुम्हारे हाथों में अमृत हो।"

लीला के मुख पर हँसी की अल्प रेखा उदित हो उठी। इस हँसी से सुरेन्द्र की हृत्तंत्री झङ्कार उठी। वह हँसी सहज-सरल थी, अविकार थी। सुरेन्द्र की आँखों ने उसे किसी और भाव से देखा, हृदय ने किसी और भाव से परखा।

पानी रिमझिम बरस रहा था। हवा के झोंके के साथ पानी के तुषार कमरे में आकर वातावरण को उत्तेजित कर रहे थे। विरहिणी कोयल पुकार उठी—पिहू-पिहू-पिहू!

दोनों चुपचाप बैठे थे। कोई किसी से नहीं बोल रहा था। लीला स्मृति-कुँज उठाकर पढ़ने लगी। सुरेन्द्र उठा, और पश्चिम दिशा की ओर, खिड़की के सम्मुख, खड़ा हो गया। धीमी-धीमी, ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। चांद के मन्द आलोक में वह सृष्टि-शोभा निरखने लगा। पानी की वर्षा से सृष्टि में नव-जीवन-संचार हो गया था। नव पल्लव अंकुरित हो गए थे। सारी सृष्टि उत्फुल्ल दिखाई देती थी। रात्रि के उस सूनसान समय में सुरेन्द्र ने देखा कि सृष्टि आनन्दमय है, और उस पर शांति का आवरण पड़ गया है। इसी समय हवा के एक छोटे झोंके ने पानी का फ़व्वारा लाकर सुरेन्द्र के मुख पर छोड़ दिया। वह उत्तेजित हो गया। हृदय तरंलित हो कर आँखों में मस्ती खेलने लगी। अब लीला भी पढ़ना बन्द कर एक खिड़की के सम्मुख खड़ी सृष्टि-शोभा देख रही थी। उत्तेजित सुरेन्द्र ने आकर उसका अंचल खींचते हुए कहा—"सृष्टि की अनूठी शोभा देखनी हो लीला, तो मेरे साथ आओ।'' अंचल सिर से खिसककर कन्धे पर आ गिरा। लीला का काला केश-कलाप नागिन की भाँति पीठ पर लटकता दिखाई दिया। 'मस्ती, में एक मात्रा और बढ़ गई। अपना अंचल एक ही झटके में

उसके हाथ से खींचकर वह रोष से बोली—"तुमने मेरा अंचल क्यों खींचा ?"

"तो क्या इसमें कोई अपराध है ?"

लीला ने रोष के साथ पीड़ित शब्दों में कहा—"तुम्हें इस समय मेरा अंचल नहीं खींचना चाहिए था।"

"क्यों ? क्या बालक अपनी माता का अंचल नहीं खींचता ?" सुरेन्द्र ने अपने नेत्र उसके चेहरे पर गड़ाकर कहा।

"इस समय तुमने बालक के रूप में मेरा अंचल नहीं खींचा है। मैं तुम्हारी आँखों में बालक की भोली-भाली चितवन का अनुभव नहीं कर रही हूँ। तुम्हारे स्पर्श मात्र से मेरे हृदय में पुत्र-प्रेम की वंशी नहीं बजी। पुत्र वत्सलता से मेरा हृदय प्लावित नहीं हुआ। सुरेन्द्र मैं अनुभव हीन माता हूँ, फिर भी ईश्वर ने स्त्री हृदय में जो मातृत्व का अदृश्य संकेत रखा है, उसके बल पर मैं कह सकती हूँ कि पुत्र जिस समय अपनी भोली-भाली चितवन से देखकर सरलता से हँस देता है, तो माता निहाल हो जाती है। आवेग भरी सी वह पुत्र को छाती से लगा कर चूम लेती है। किन्तु सुरेन्द्र, तुम्हारे इस हस्त स्पर्श में मैं अनुभव कर रही हूँ एक विलासी पुरुष के वासनामय, उद्दण्ड हस्त स्पर्श का, जिसमें उसकी पापमय इच्छाएं गर्भित हैं। तुम्हारी आँखों में उत्तेजना का नंगा नाच मैं देख रही हूँ। उनमें विकारों की उन्मत्त लहरें उठ रही हैं, और तुम्हारा संयम तिनके की भाँति उनमें बहा जा रहा है। ओह, कितनी भयानक हैं तुम्हारी आँखें, मुख कितना विकृत हो गया है ! मैंने बड़ी भूल की, जो इतनी देर तक यहाँ ठहरी। मुझे क्या मालूम था कि तुम पशु हो। अब मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकती।" वह अपने कमरे की ओर तेजी से चल दी !"

सुरेन्द्र ने पुकारा—"लीला !"

लीला ने दृढ़ता से कहा—मैं अब न आऊंगी। अपनी मधुर एवं

मोहक भाषा में लुभाकर छल करनेवाले तुम कपटी शैतान हो!"

सुरेंद्र पुकार रहा था— "लीला, लीला, ठहरो……।"

"ऊं हूँ, मैं नहीं ठहरती। सुरेन्द्र, मैं तुम्हें सचेत करती हूँ कि मैं तुम्हारी माता हूँ। तुम मेरे पुत्र हो। इस पवित्र सम्बन्ध को कलंकित करनेवाले राक्षस, यहाँ से चले जाओ।" कमरे में जाकर उसने द्वार बन्द कर लिया।

सुरेन्द्र अल्प समय तक वहीं खड़ा रहा। फिर कुछ विचार निश्चित करके, लीला के कमरे के पास जाकर उसने पुकारा—"लीला……।"

उत्तर नहीं मिला।

"लीला……लीला…।"

शब्द हवा में विलीन हो गए।

"लीला, एक बात सुन लो, सिर्फ एक……।"

द्वार खुल गया। लीला ने त्रस्त एवं व्यथित होकर कहा—'सुरेन्द्र, तुम मुझे बार-बार क्यों सताते हो? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। तुम न मानोगे, मैं आत्मघात कर लूंगी।"

सुरेन्द्र ने दर्प-हीन होकर कहा—"मैं क्या करूं लीला, मैंने अपने हृदय पर विजय पाने की अत्यधिक चेष्टा की, मैं असफल रहा। पाप-मय विकारों को दमन करने का प्रयत्न मैं दिन-रात कर रहा हूँ, उन्हें दमन न कर सका। तुम्हें भूलने का दिन-रात प्रयास करता हूँ, अनायास तुम प्रेमिका बन कर मेरे हृदय को उन्मत्त कर देती हो। अनन्त के पथ पर अग्रसर होता हूँ, वासनाएं अपने मोहक आकर्षण में लुभा कर पथ-भ्रष्ट कर देती हैं।"

"तो तुम्हारी इस असमर्थता के कारण मैं अपनी तपस्या नष्ट कर दूं? तुम नहीं जानते सुरेन्द्र, यह तपस्या मैंने कैसे 'सफल' की है? बड़ी भारी क़ीमत देनी पड़ी है। प्राणों की बाजी लगा कर यह दाँव मैं जीत सकी हूं। कहो, सुरेन्द्र क्षणिक सुख के लिये अपना सर्वस्व गवाँ कर

तुम्हारी अनुगामिनी बन जाऊं ? यही तुम्हारा कहना है न ?"

सुरेन्द्र ने झेंपकर कहा—"नहीं······मैं······।"

"नहीं तो फिर तुमने आज मर्यादा भङ्ग क्यों की ? उस दिन तो तुम बड़ी-बड़ी बातें हाँक रहे थे। क्या वह केवल अभिनय-मात्र था ?" लीला बोल रही थी, मानो माता अपने पुत्र को डाँट रही हो। "और सुरेन्द्र अब मैं तुम से बोलना भी पाप समझती हूँ। मैं तुम्हें बहुत ऊँचा समझती थी, किन्तु मेरा अनुमान ग़लत निकला। जाओ, मेरे सामने से चले जाओ, वरना मैं अपनी जान दे दूंगी। और जिस दिन हृदय पर विजय प्राप्त करलो, मेरा आशीर्वाद लेने चले आना।" उसने द्वार खट से बन्द कर लिया। अन्दर जाकर वह विस्तर पर लेट गई, और फफक-फफक कर रोने लगी।

जीवन को सार्थक बनाने के लिये बहादुर योद्धा रणांगण में हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान कर देता है। ठीक उसी तरह जीवन को सार्थक बनाने के लिए, संसारी मनुष्य कर्त्तव्य-पालन के लिये बड़े-से-बड़ा त्याग करने में अपना गौरव समझता है। यही उसकी विजय है। यही उसके जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। समरांगण में प्राणों के लोभ से पराजित वीर और जीवन-संग्राम में कर्तव्य-च्युत मनुष्य, इनमें प्रायः कोई अन्तर नहीं होता। दोनों के हृदय की अवस्था एक-सी होती है। सुरेंद्र अपने कर्तव्य पालन के हेतु त्याग करने में असमर्थ हो गया था। यह उसके जीवन में सब से बड़ी हार थी—असफलता थी। पर लीला ने हृदय प्रेम की आग से झुलसते रहने पर भी—सारी यातनाएं सह कर भी—कर्तव्य से मुँह न मोड़ा। एक वीर योद्धा की तरह हृदय स्थित विकारों से वह दाँव पेंच खेल रही थी। विकारों के प्रबल आक्रमणों के समाने वह नहीं झुकी, नहीं झुकी।

सुरेन्द्र अपने कमरे में चला आया। लीला के धिक्कार-भरे शब्दों ने उसे आहत कर दिया। पश्चात्ताप तथा आत्मग्लानि से उसका मुख

म्लान हो गया। आत्मवंचना से वह स्वयं को धिक्कारने लगा। वह सोचने लगा—"नारी हृदय, तुम्हारी महिमा अपार है! लीला, तुम धन्य हो!! मुझे उपदेश देते समय, फटकारते समय तुम्हारे मुख पर जो भाव उदित होते थे, उनमें मैं तुम्हारे हृदय में होने वाले तुमुल युद्ध का प्रतिबिंब देखा करता था। उन भावों को तुम सहज में ही पराजित कर दिया करतीं थीं। तुम देवी हो।" वह फिर सोचने लगा—"मैं लीला के सौंदर्यमय शरीर से प्रेम करता हूं, या उसकी अविनाशी आत्मा से? साकार देवता की पूजा या निराकार ब्रह्म की उपासना? दोनों में कौन श्रेष्ठ है? संसारिक मनुष्य को ईश्वर भक्ति का दिग्दर्शन कराने के लिये साकार-पूजा की योजना की गई, किन्तु परमतत्त्व को पाने के लिये, परमब्रह्म में एकाकार होने के लिये किसी ब्रह्मवादी ने साकार मूर्ति की पूजा नहीं की। वह निराकार की उपासना के उपासक रहे। लीला के प्रथम परिचय में वह मेरे सम्मुख स्त्री रूप में उपस्थित हुई। तब मैंने अपना कोई अधिकार न होने पर भी उसे 'प्रेमिका' नाम दे दिया। किन्तु दूसरी बार जब वह मेरे सामने आई, तब माता-रूप में। उसके शरीर पर दूसरे का अधिकार था, और कायदे से वह मेरी माता थी। एक अनधिकार प्रेमिका, दूसरी अधिकारी माता। माता और प्रेमिका मेरे लिये लीला के दो रूप थे। मुझ से विवाह होने पर प्रेमिका पत्नी, सहधर्मिणी के रूप में परिवर्तित होती, और उसके शरीर एवं आत्मा पर मेरा अधिकार होता। किन्तु जब उसका विवाह दूसरे के साथ हो गया, तब वह उसके शरीर का अधिकारी हो गया। और आत्मा, वह मेरी चिर-संपत्ति थी। उसे मुझसे कौन छीन सकता था। उसकी उपासना करना और प्रेम के परमतत्त्व को पाना मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये था। मैं उसे भूल गया, और लीला के शरीर की—माता के शरीर की—मैंने अभिलाषा की। हाय! मैं कितना अधम हूँ। पापी हूँ।" सुरेन्द्र के सारे शरीर पर काँटे उठ आए। वह रोने लगा

पश्चात्ताप उसे जलाने लगा। अब भविष्य में कभी वह लीला से वैसा बरताव न करेगा। उसने मन-ही-मन कहा—"प्रातःकाल उठते ही लीला के चरणों पर गिर कर उससे क्षमा माँगूँगा, और प्रेम के सत्यमय स्वरूप की उपासना के लिये इस घर का—संसार का—त्याग कर दूंगा।"

ऊषा जब सूर्य देवता के आगमन के आनंद में कुँकुम उँडेल रही थी, लीला उठी, और नित्यकर्म में संलग्न हो गई। आज सारी रात उसे नींद नहीं आई। रोते-रोते नेत्र आरक्त हो रहे थे। ठीक सात बजे उसने नौकर से कहा—"ड्राइवर से कह दे कि मैं आठ बजे की ट्रेन से बंबई जा रही हूँ। मोटर तैयार कर ली।"

ठीक साढ़े सात बजे ड्राइवर ने मोटर लाकर बड़े फाटक पर खड़ी कर दी, और मोटर तैयारी की सूचना लीला को दे दी। वह अपना सूटकेश लेकर मोटर में बैठने जा रही थी। सुरेंद्र के कमरे से ही बाहर जाने को मार्ग था। उसके कमरे के सम्मुख आते ही सुरेंद्र ने उसे देखा। प्रवासी रूप में लीला को देख उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"कहाँ जा रही हो?"

लीला ने दूसरी ओर मुँह फेर कर कहा—"बम्बई जा रही हूँ।" वह द्रुत गति से मोटर में जा बैठी। पों-पों करती हुई मोटर स्टेशन की ओर चल दी। सुरेन्द्र देखता ही रह गया।

(५)

जगन्नाथ बाबू ने लीला को एकाएक सम्मुख देख घबराहट से कहा—"क्यों लक्ष्मी, सब कुशल है न? तुम एकाएक कैसे आईं? आने की सूचना भी नहीं दी।"

लीला ने अपने कोमल हाथ उनके गले में डाल दिए और अपनी ठुड्डी उनके वक्षःस्थल पर रख दी। आँसू-भरी आँखों से उनके मुख की ओर देखती हुई वह कहने लगी—"तुम बड़े निष्ठुर हो, मुझे अकेली

छोड़ आये। मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी अकेली नहीं रह सकती।" उसका स्वर काँप रहा था। हृदय भर आया था। वह आगे न बोल सकी।

जगन्नाथ बाबू अपने हाथों में उसे आबद्ध करते हुये बोले—"प्रिये, अब भविष्य में कभी मैं तुम्हें अलग न करूँगा। इन चार दिनों में मुझे भी अनुभव हो गया कि मैं तुम्हारा विरह एक मिनट भी सहन नहीं कर सकता।" लीला ने आँखें बन्द कर लीं और सिसकियाँ भरने लगी। रोते-रोते उसके कपोल, नासिका और नेत्र आरक्त हो गये। इस रूप में उन्होंने उसे अधिक सुन्दर देखा। उनके वृद्ध हृदय में कवित्व का संचार हो गया। उन्होंने सस्मित कहा—"तुम भी बड़ी निष्ठुर हो, सारे गुलाब के फूलों को मसल डाला।"

लीला ने एक सिसकी लेकर कहा—"कहाँ ?"

जगन्नाथ बाबू ने एक बड़ा आइना उसके सामने कर दिया। लीला ने मुस्किरा दिया। वह भी हँस पड़े किन्तु लीला की मुस्किराहट में करुणा का जो नर्तन था, उसे किसने देखा ? सुरेन्द्र की आँखों में ही उसे देखने की शक्ति थी।

दूसरे दिन जगन्नाथ बाबू ने कहा—"मेरा यहाँ का काम समाप्त हो चुका है। चलो, घर लौट चलें।"

लीला ने हँसकर कहा—"वाह, वाह, आपने मुझे बम्बई की सैर कहाँ कराई ? मैं तो जब तक सारी बम्बई न देख लूँगी, वापस नहीं जाऊंगी। और देखो, अपनी मोटर बहुत पुरानी हो गई है। एक नई मोटर खरीद लो—छोटी-सी, दो सीट वाली, जिसमें हम-तुम दोनों ही बैठ सकें। तब साथ-साथ बम्बई देखने चला करेंगे।

दूसरे दिन मोटर खरीद ली गई। दिन भर दोनों बम्बई में खूब चक्कर लगाते। रात में टाकी देखने जाते। एक दिन लीला ने जगन्नाथ बाबू से कहा—"कभी-कभी मेरे हृदय में विचित्र कल्पना

उत्पन्न होती है।"

"क्या?"

"यह सारा जगत् नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, हाँ, जलकर भस्म हो जाय। जीवित रहें मैं और तुम, दोनों ही अनन्त काल तक प्रलय भी हमारा नाश न कर सके।"

"तुम भी कैसी विचित्र बात करती हो ' अरी पगली, जगत् ही नष्ट हो जायगा, तो हम-तुम कहाँ रहेंगे?"

"जिस प्रलयङ्कर की इच्छा से जगत् भस्मीभूत होगा, उसके पैरों पड़कर, उसे प्रसन्न करके सिर्फ एक मनुष्य के रहने के लिये स्थान माँग लूँगी।"

"एक क्यों? दो, तुम और मैं।" जगन्नाथ बाबू ने हँस कर कहा।

"तब मैं और तुम दोनों एक हो जायंगे। मेरा अस्तित्व ही न रहेगा। मैं तुम में समा जाऊंगी।"

जगन्नाथ बाबू ने उसे छाती से लगाकर कहा—"तुम्हारी भी अजीब इच्छाएं होती हैं।"

तीन दिन तक लीला खूब मजे में रही, आनन्द में रही। किन्तु तीसरे दिन फिर सुरेन्द्र के विचार ने उसे पीड़ित कर दिया। साथ ही उस रात का सारा दृश्य आँखों के सम्मुख उपस्थित हो गया। वह सोचने लगी "मेरा सुरेन्द्र के प्रति बहुत ही कड़ा व्यवहार था। मैंने उसका जो तिरस्कार किया, जो फटकार सुनाई, इस आघात के फल स्वरूप उसने आत्मघात कर लिया, तो मैं कहीं की न रहूँगी। वह क्या कहेंगे? जगत क्या कहेगा?" वह सिहर उठी। चिन्तित हो गई। मुख म्लान हो गया उस समय जगन्नाथ बाबू कहीं चले गये थे। भयानक कल्पनाएं उसके मस्तक में भ्रमण करने लगीं। पर होते, तो वह सुरेन्द्र के पास उड़ जाती। एक घण्टे के अनन्तर जगन्नाथ बाबू आये। वह

उनके पास दौड़ी गई। घबराहट तथा निश्चय-पूर्वक उसने कहा—"चलो, घर चलो, अब मेरा यहाँ जी नहीं लगता।"

"क्या अभी?"

"हाँ, इसी क्षण।"

"संध्या को चलेंगे। इस समय धूप बहुत तेज है।"

"नहीं, इसी क्षण, मैं अब यहाँ एक मिनट भी नहीं रह सकती।"

"आखिर क्यों? कारण?"

"बस, यही कि मेरा जी यहाँ के वातावरण से ऊब गया। चलो, तुम्हें मेरी शपथ है।"

"तुम बड़ी विचित्र हो।'

* * *

रास्ते में कोई किसी से नहीं बोला। हाँ, जगन्नाथ बाबू ने दो-तीन बार बोलने का प्रयत्न किया, किन्तु लीला की ओर से सन्तोष-जनक उत्तर न आने से वह भी चुप हो गये। लीला एक समस्या के रूप में उनके सम्मुख उपस्थित हो गई। वह इसी समस्या को सुलझाने में व्यस्त हो गये। लीला का जीवन ही स्वयं एक समस्या थी, जिसे सुलझा कर भी वह उसी में बार-बार उलझ जाती थी।

जब वह घर आए, सन्ध्या होती जा रही थी। सुरेन्द्र के आगमन के लिये जगन्नाथ बाबू ने हार्न बजाया। दो-तीन नौकर दौड़ कर बाहर आये। मोटर ठहर गई। दोनों उतरे। जगन्नाथ बाबू ने एक नौकर से पूछा—"सुरेन्द्र कहाँ है?"

"वह तो दो-तीन दिन से घर नहीं आये। कहीं चले गये हैं।"

जगन्नाथ बाबू ने लीला की ओर देखा। लीला नत-मस्तक हो जमीन की ओर देखने लगी। उनकी ओर देखने का उसमें साहस नहीं रहा। वह चुपचाप विचार-मग्न अन्दर चले गये। हृदय की विचित्र अवस्था लिए लीला भी उनके पीछे-पीछे चली जा रही थी।

पैर भारी हो गये थे। जीवन की समस्या सुलझी नहीं और जटिल हो गई।

जब वह सुरेन्द्र के कमरे में गई, तो टेबिल पर अपने नाम का लिफाफा देख उसे पढ़ने लगी—

"पूज्य माताजी,

सादर प्रणाम।

जा रहा हूं पाप का प्रायश्चित्त करने। जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने। हृदय पर विजय प्राप्त करने। प्रेम के चिर स्वरूप को अपनाने। इस जीवन में कभी सफल हो सका, तो तुम्हारे दर्शनों को आऊंगा।

तुम्हारा अपराधी बालक

"सुरेन्द्र"

जब वह पत्र पढ़ रही थी, जगन्नाथ बाबू पीछे आकर खड़े हो गये। पत्र उसके हाथ से लेकर उन्होने पूछा—"यह क्या है?"

लीला उठकर खड़ी हो गई और नीचे देखती हुई पैर के नाखून से जमीन कुरेदने लगी। उसके हृदय-सागर में ज्वार आ गया था। विचारों की भयानक लहरें एक दूसरे से टकरा रही थीं। पत्र पढ़कर जगन्नाथ बाबू ने कहा—"इसका अर्थ?"

लीला ने विचारों को दमन करने और शान्ति को अपनाने की चेष्टा करते हुए कहा—"जीवन-संग्राम में सुरेन्द्र पराजित होकर भाग गए। खुले मैदान में शेर से दो-दो हाथ करने की हिम्मत उनमें नहीं थी। जङ्गल में रहकर भी कहीं संसार पर विजय प्राप्त की गई है। संसार में रहकर ही उसे जीतना सच्चे पौरुष का लक्षण है।"

"ये सारी बातें मैं जानता हूँ। लीला, आज मैं इस रहस्य का अन्त कर देना चाहता हूँ। बताओ, इस पत्र का क्या अर्थ है।"

"विवाह के प्रथम कॉलेज में हम दोनों एक-दूसरे के प्रेम के पुजारी रहे। विवाह हो जाने पर माता और पुत्र के स्नेह के उपासक

रहे।"

जगन्नाथ बाबू स्तम्भित हो गए। विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखकर उन्होंने कहा—"जब तुम दोनों में प्रेम हो गया था, तो तुम्हें मुझसे विवाह नहीं करना चाहिये था। यह बात तुमने माता-पिता से क्यों नहीं कही?"

"भारतीय अबलाओं की किसी भी अवस्था में उनकी अपनी इच्छा नहीं होती। जीवन की तीनों अवस्थाओं में उनके लिये त्याग अनिवार्य है। बाल्य-काल में माता-पिता के लिये, युवावस्था में पति के लिये, वृद्धावस्था में सन्तान के लिये उन्हें स्वयं को बलिदान कर देना पड़ता है। मैं भी भारतीय थी। मेरा भी वही मार्ग था। और, आप जानते ही हैं कि मैंने अपने माता-पिता के लिये सर्वस्व अर्पण कर दिया था। अब आपके प्रेम पर अपना जीवन सार्थक कर रही हूं।"

जगन्नाथ बाबू शान्त थे, मानों कुछ सोच रहे हों। लीला कह रही थी—"विवाह के अनन्तर शरीर और आत्मा में जोर का संघर्ष आरम्भ हो गया था। मेरे जीवन में वह प्रलय था। क्रांति थी। 'त्याग' के ब्रह्मास्त्र द्वारा मैंने तो सारे आक्रमणों को परास्त कर दिया। किन्तु सुरेन्द्र असफल रहे, मैंने उन्हें फटकार दिया, उन्हें धिक्कारा।" कुछ ठहरकर वह कहने लगी—"जीवन की दौड़ में अविनाशी आत्मा तो अनन्त तत्त्व को पाने के लिये द्रुत गति से अग्रसर हो रही है। विनाशी शरीर पीछे रह गया है। दोनों में इतना अन्तर हो गया है कि उनका सम्बन्ध ही टूट-सा चुका है जीवन में अब वह अन्तर मिट नहीं सकता। और फिर, शरीर तो यहीं रहेगा। आत्मा अनन्त तत्त्व में विलीन होगी।" जगन्नाथ बाबू चुप थे। लीला भी चुप हो गई।

उस दिन के अनन्तर लीला को किसी ने हँसते नहीं देखा। वह दिन-पर-दिन कृश होती जा रही थी किंतु मुख पर एक अनुपम तेज उदित हो रहा था।

एक दिन जगन्नाथ बाबू ने कहा—"लीला, वृद्धावस्था में विवाह करके मैंने तुम्हारे जीवन में विष घोल दिया···।"

लीला ने उनके मुख पर अपना कृश हाथ रखते हुए कहा—"न-न, ऐसा न कहो। मैं बहुत सुखी हूं। कई जन्म तपस्या करने पर भी जो मुझे प्राप्त नहीं हो सकता था, वह मैंने एक ही जन्म में, तुम्हारे सहवास से, पा लिया। मैं प्रेम के उस प्रदेश में विहार कर रही हूँ, जहाँ विनाश का नाम नहीं।"

"यह ठीक है, किंतु प्रत्येक स्त्री तुम जैसी देवी नहीं होती।"

"नहीं स्वामी, हमारे देश में घर-घर देवियाँ हैं। भारत की सारी श्री नष्ट होने पर भी—हमारा सब कुछ लुट जाने पर भी हमारी यह अमूल्य निधि सुरक्षित है। इस पर हमें गर्व है। पश्चिमीय महिलाएं विश्व की दौड़ में चाहे जितनी सरपट भागें, किन्तु उनमें त्याग का अधिष्ठान होने से वे एक दिन ठोकर खाकर गिर पड़ेंगी। और, तब हम भारत की महिलाए उन बहिनों को त्याग का पाठ पढ़ाकर उनका उद्धार करेंगी।"

"फिर भी भविष्य की ओर दृष्टि रखकर हमें—वृद्धों को—विवाह नहीं करना चाहिए।"

"हाँ, यह ठीक है।"

सन्ध्या-समय लीला ने कहा—"अब शरीर से आत्मा ने बिलकुल सम्बन्ध तोड़ दिया है। अब वह इस शरीर को छोड़ना चाहती है!"

जगन्नाथ बाबू ने कहा—"लीला, यह तुम क्या कह रही हो। मैं तुम्हारे बग़ैर कैसे जीवित रह सकूँगा?"

लीला के मुख पर करुणामयी हँसी प्रस्फुटित हुई, आँखों ने दो-दो मोती उगल दिए।

दूसरे दिन प्रातःकाल उसने फिर कहा—"आज खेल समाप्त होने वाला है?"

जगन्नाथ बाबू ने कहा—यह अमङ्गल शब्द मुख से न निकालो।

लीला ने क्षीण स्वर में कहा—"अमङ्गल नहीं स्वामी, मेरे लिये महामङ्गल है।

आपकी गोदी में सुहाग भरी जा रही हूँ। फिर भी अमङ्गल! मेरे लिये इससे अधिक सौभाग्य का समय और कब हो सकता है?"

तीसरे पहर उसने क्षीण स्वर में फिर कहा—"नाथ, मैं आपकी गोद में सोना चाहती हूँ। इस जीवन में फिर यह सौभाग्य मिले, न मिले।"

जगन्नाथ बाबू ने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया, एकटक उसकी ओर देखने लगे।

इसी समय एक नौकर ने आकर कहा—"सुरेन्द्र भैया आ गए।"

सुरेन्द्र का नाम सुनते ही लीला ने आँखें खोल दीं। सुरेंद्र संन्यासी के रूप में उपस्थित हुआ। लीला की अवस्था देख सारी परिस्थिति उसकी समझ में आ गई। वह आत्मविस्मृत हो गया। अवरुद्ध कण्ठ से उसने कहा—"माता, प्रणाम!" और अपना मस्तक उसके चरणों में रखकर नेत्रों के तप्त अश्रु-जल से लीला के—माता के—चरण धो दिए। लीला ने अपना कृश हाथ उसके मस्तक पर रखकर कहा—"त—था—स्तु।"

सुरेन्द्र ने उसकी ओर देखा, आँखें, अनुपम तेज से चमक रही थीं एक पुण्यमय प्रकाश प्रज्वलित हो उठा था। मुख पर अनन्त समाधान व्यक्त हो रहा था। एक क्षीण हँसी की रेखा उदित हुई, और···और ·······।

सुरेंद्र चिल्ला पड़ा—"मा·····मा······मा···आँ·····।"

जगन्नाथ बाबू की दृष्टि में लीला का जीवन प्रदीप बुझ गया, परन्तु सुरेंद्र की दृष्टि में······।"

रौशनआरा

निज़ाम एक शाही महल में वह वीर बन्दी था। आधी रात होने वाली थी। बाहर निस्तब्धता का साम्राज्य फैल रहा था। वह एक रत्न-जटित कोच पर बैठा था। विशाल कपाल पर चिन्ता की रेखाएं दिखाई पड़ रही थीं। दृष्टि नीचे को थी और लम्बे लम्बे काले केशों की लटें कानों के पास लटक रहीं थीं। किसी गहरे विचार ने उसे बेहोश सा कर दिया था।

'मैं आई हूँ!'—वीणा की झङ्कार सी कोमल ध्वनि से सारा कमरा गूंज उठा। वीर अपने ध्यान में मग्न था। उसने कुछ नहीं सुना।

अब की कुछ निकट आकर आगन्तुक ने कहा—मैं आई हूँ वीर, मैं हूँ, रौशनआरा।

वह मानों जग पड़ा—'कौन! रौशनआरा! इतनी रात को आने का कष्ट क्यों उठाया, शाहज़ादी।'—उसने प्रश्न किया।

यही तो मेरी समझ में नहीं आता कि मैं यहाँ क्यों आई! दिल बेताब हो रहा था, एक बेचैनी सी थी और वही यहाँ खींच लाई। बहादुर, तुम जानते हो, मेरे दिल में एक दर्द है और उसकी दवा तुम्हारे पास है।

'किन्तु—'

'किन्तु क्या।'

'किन्तु मैं तो रणचण्डी का उपासक हूँ शाहज़ादी! तलवार से मुझे प्रेम है। जब से समझ आई है, तलवार को ही प्यार किया है। तलवार ही मेरी प्राणाधार है और युद्धस्थल है मेरा क्रीड़ा-स्थल। लड़ाई में मारना या मर जाना ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो, वह भला दिल-दर्द की दवा क्या जाने!'

'तुम सब जानते हो वीर, मेरे प्यारे फरहाद, मेरे मजनूं, मैं तुम्हारी शीरीं हूँ; लैला हूँ।'

'तुम रूपवती हो, अति रूपवती हो। तुम्हारे हृदय में प्रेम है। तुम्हारे मुख पर एक तेजोमयी दीप्ति झलक रही है। तुम्हारे नेत्रों में नशा है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सौंदर्य बरस रहा है। फिर भी—'

'क्या 'फिर भी'। रुक क्यों गये।'

'शाहज़ादी अफसोस है कि तुम्हारे प्रेम के लिए मेरे हृदय में स्थान नहीं है। मेरी प्यारी मातृभूमि आज परतन्त्रता के पैरों तले रौंदी जा रही है, नाराज़ न हों शाहज़ादी, तुम विदेशियों के भीषण अत्याचार से वह अब त्राहि-त्राहि पुकार उठी है। उसके आर्तनाद से सारा देश जग पड़ा है। भारतीय युवकों ने जीवन के सारे सुखों को तिलाञ्जलि दे दी है। मातृभूमि को बन्धन-मुक्त करने के लिए, भारत का मस्तक पूर्ववत् उन्नत करने के लिए, आज देश का बच्चा-बच्चा व्याकुल हो रहा है। उनकी आँखों में आज दुखी भारत समा रहा है। वे माया, ममता, प्रेम और प्यार भूल गये हैं। फिर मैं, जिस पर गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति श्री शिवाजी महाराज का पूर्ण विश्वास है, प्रेम-क्रीड़ा में फंस कर राजद्रोही और देशद्रोही नहीं बनूंगा। शाहज़ादी महाराज शिवाजी का यह सेवक—बजाजी निम्बालकर—शत्रु-कन्या—एक यवन कन्या के प्रेम की अपेक्षा देश प्रेम को अधिक महत्व देता है। इसलिए मुझे क्षमा करो।'

'बजाजी, मैं यवन-कन्या ज़रूर हूँ, किन्तु मन से नहीं, तन से। आज से चार वर्ष पूर्व जब तुम हैदराबाद लूटने आये थे। और अब्बाजान ने तुम्हारा मुकाबिला किया था, उस वक्त मैं भी उनके साथ थी। उस घोर घमासान युद्ध में तुम्हारा वह अपूर्व युद्ध कौशल देख कर मैं तुम पर मुग्ध हो गई थी। उसी दिन से मैंने तुम्हारी प्रतिमा अपने हृदय मन्दिर में स्थापन की है' उसका पूजन करते करते मैं हिन्दू हो गई हूँ।

शत्रु-कन्या हूं ज़रूर, पर शत्रु के समस्त परिवार को शत्रु ही मान लेना वीरता नहीं है।'

'परन्तु शाहज़ादी मैं विवश हूँ क्योंकि हमने पहले देश की स्वतन्त्रता, फिर धर्म की रक्षा, फिर प्यार की साधना का व्रत ले रक्खा है।'

कहने को तो बजाजी यह बातें कह गया, किन्तु सतपुड़ा तथा सह्याद्रि जैसे पहाड़ी और दक्षिण जैसे गरम प्रदेश में रहने वाले बजाजी ने अब तक इतनी सुन्दर रमणी नहीं देखी थी। रौशनआरा सुन्दरता की पुतली थी, उसकी आँखों में मादकता थी, शरीर पर एक अनुपम तेज झलक रहा था, उसके शब्दों में आकर्षण था। जब वह किसी से बोलती या किसी को देखती, तो वह अपनी गति भूल कर अवाक् रह जाती। तरुण बजाजी के हृदय को धीरे-धीरे वह अपनी तरफ आकर्षित कर रही थी। बजाजी स्वयं नहीं समझ सके कि वह किसी के नेत्रो के शिकार बन रहे हैं और अदृश्य जाल में फंस रहे हैं।

रौशनआरा ने मन्द स्मित करते हुए कहा—तो मैं भी पहिले आप का देश स्वतन्त्र करने में तन मन धन अर्पण करूंगी। देश स्वतन्त्र होने पर हिन्दू धर्म के अनुसार आचरण करूंगी और फिर प्रेम साधना में अपना जीवन व्यतीत करूँगी।

बजाजी कुछ नहीं बोले। रौशनआरा ने उनके हृदय पर अधिकार कर लिया था। उनकी आँखों में शराब का सा नशा छा रहा था। हृदय उत्तेजित हो रहा था। तीक्ष्ण बुद्धि वाली रौशनआरा ने उनके मन को बदलती हुई भावनाओं को ताड़ लिया। अपने दोनों मृणालवत् हाथ उनके गले में डाल कर अपना सुन्दर मुख उनके वक्षःस्थल पर रख दिया। बजाजी के हृदय की चेतना शनैः शनैः नष्ट हो कर आँखें मानो नशे में सराबोर हो कर बन्द हो गईं। एक क्षण बाद जब ऊपर आकाश में चन्द्रदेव हंस रहे थे और देवी प्रकृति उनके हिम करों में बद्ध थी, बजाजी के हाथों ने रौशनआरा को अपना बन्दी बना लिया।

प्रभात-कालीन शीतल समीर के स्पर्श से दोनों की मोह निद्रा भंग हुई। रौशनआरा की उंगलियों से खेलते हुए बजाजी ने कहा—यह परतन्त्रता कब नष्ट होगी प्यारी?

"कल इसी समय आऊंगी, तैयार रहना, दोनों निकल चलेंगे।"—यह कह कर बजाजी की तरफ अपने मादक, अलसित और प्रेम-पूर्ण नेत्रों से कटाक्ष करती हुई रौशनआरा कमरे से बाहर चली गई।

(२)

बूढ़ा निज़ाम इन दिनों फूला नहीं समाता। उसने बड़ा भारी शिकार मारा है। मरहठों के शूर सेनापति और शिवाजी के दाहिने हाथ बजाजी निम्बालकर को उसने क़ैद कर लिया है। वह चाहता तो रोज बजाजी को मार डालता या मरवा डालता। किन्तु वह राजनीति में निपुण है। बजाजी का मुसलमान हो जाना उसके मरने से कहीं अधिक लाभदायक था। इस्लाम या इस्लामी सल्तनत के डगमगाते हुए सिंहासन को स्थिर करने के लिए निजाम ने उसको मुसलमान बनाना अत्यावश्यक समझा था और इसीलिए उसने उसको कारावास में न रखकर शाही महल में नज़रबन्द करके रक्खा था। किन्तु बजाजी का मुसलमान होना कोई खिलवाड़ नहीं था। निजाम के लाख प्रयत्न करने पर भी यह बात उतनी ही असम्भव थी जितनी सूर्य का पश्चिम में उदय होना। जब से उसने बजाजी को क़ैद किया है, वह इसी घात में है कि किस तरह—किस उपाय से उसे मुसलमान बनाया जावे।

निजाम इसी चिन्ता में बैठा था कि एक गुप्तचर सामने आया और कोर्निश करके खड़ा हो गया। बादशाह ने पूछा—क्या खबर है करीम?

वह बोला—जहाँपनाह, कल रात को मैंने जो कुछ देखा है उसे बयान करते मेरा कलेजा काँप रहा है!

'कहो-कहो, क्या शिवाजी ने कोई क़िला फ़तह कर लिया या फिर

हैदराबाद लूटने आ रहा है ?'

'नहीं, जहाँपनाह, ऐसी कोई बात नहीं है, मगर जो कुछ है उसे अगर हुजूर सुनेंगे......'

'बस, तुम्हें जो कुछ कहना है, फौरन कहो। फिजूल बातें बनाकर मेरी हैरत को न बढ़ाओ'

'जहाँपनाह, कल रात को मैंने हुजूर शाहज़ादी साहिबा को क़ैदी के कमरे में तशरीफ़ ले जाते देखा था। उनको उधर जाते देख ताबेदार भी उनके पीछे-पीछे चला गया और वहाँ जाकर जो कुछ देखा उसे कहने में ख़ाकसार मजबूर है!'

'कौन शाहज़ादी, रौशनआरा ?'

'हाँ, जहाँपनाह!'

निजाम का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। उसने करीम को चले जाने की आज्ञा दी, करीम चला गया। निज़ाम ने पुकारा—'कौन है ?' एक सेवक कोर्निश करके सामने खड़ा हो गया।

'जाओ, रौशनआरा को भेज दो।'

अल्प समय पश्चात् ही रौशनआरा आकर पिता के सामने खड़ी हो गई। निज़ाम ने क्रोध भरे स्वर में कहा—रौशनआरा, तूने बहुत बड़ा गुनाह किया है।

'कौन सा गुनाह अब्बाजान ?'' उसने घबराकर पूछा।

'तू एक हिन्दू पर, एक काफ़िर पर, एक इस्लाम के दुश्मन पर आशिक़ है।'

पिता के मुंह से एकाएक यह बात सुनकर रौशनआरा काँप गई। उसने डरते हुए कहा—अब्बाजान, यह बिल्कुल झूठी बात है।

बादशाह ने फिर डपट कर कहा—झूठी बात है ? नहीं, बिल्कुल सच है। रौशन, सच-सच बता, क्या तू बजाजी को नहीं चाहती ?

उसके मुंह से अचानक निकल गया—'नहीं चाहती!'

'नहीं चाहती'।

रौशनआरा के हृदय ने रो दिया। उसने रुँधे हुए स्वर में कहा—नहीं, अब्बाजान! मैं किसी को नहीं चाहती। मैं किसी पर आशिक़ नहीं हूँ।

आँखों से अग्नि-कण बरसाते हुए निज़ाम ने कहा—तू कुरान-शरीफ़ और अल्लाह पाक की क़सम खाकर कह सकती है?

रौशनआरा का फूल-सा चेहरा कुम्हला गया, वह सिसकियाँ भरने लगी। उसने रोते-रोते कहा—अब्बाजान, आज न जाने आपको क्या हो गया है? लो मैं जाती हूँ, जब आप शान्त होंगे तो आऊँगी। वह जाने लगी।

निज़ाम ने चिल्लाकर कहा— "रौशनआरा, कहाँ जाती है, ठहर।" वह ठहर गई। निज़ाम ने फिर कहा—'रौशन, मेरे पास सबके लिए माफ़ी है, लेकिन इस्लाम के साथ दग़ाबाज़ी करने वाले को मैं ख़्वाब में भी माफ़ नहीं कर सकता। समझी!'

'पर अब्बाजान, मैंने कब दग़ाबाज़ी की है?'—वह रो रही थी। आगे न बोल सकी।

'फिर वही बात। नालायक छोकरी, दग़ाबाज़, मेरे पाक ख़ानदान को दाग़ लगाकर.........'

रौशनआरा अब आगे न सुन सकी। उसका हृदय रोना भूल कर उत्तेजित हो उठा। उसने आवेग से कहा—बस अब्बाजान, अल्लाह जानता है कि मैंने किसी के साथ दग़ाबाज़ी नहीं की। मैं बजाजी को प्यार करती हूँ, तहेदिल से प्यार करती हूँ। मेरी मुहब्बत पाक है।

रौशनआरा के इन शब्दों ने आग में घी का काम किया। निज़ाम ने क्रोध से फुफकारते हुए कहा—मैं भी कहता हूँ कि इस्लाम और इस्लामी सल्तनत के लिये मैं ऐसी लाखों बेटियों को क़ुर्बान कर दूँगा। लेकिन इस्लाम पर धब्बा न आने दूँगा।

सुख में पली हुई राजकन्या त्याग के महत्व से अनभिज्ञ थी। दुःख का डरावना रूप देखकर वह आकुल हो उठी। वह फूट-फूट कर रोने लगी तथा पिता के चरणों पर गिर पड़ी। दोनों हाथों से पिता के पैर पकड़ कर उसने कातर स्वर में कहा—रहम करो अब्बाजान, रहम करो!

इन शब्दों से निज़ाम का हृदय द्रवीभूत हो गया। वह पिता का हृदय था उसकी वह इकलौती बेटी थी। उस पर निज़ाम का निरतिशय प्रेम था। वह अल्प समय तक चिन्ता में डूब गया। अचानक एक विचार उसके मन में आया कि क्या हर्ज है, अगर इसी उपाय से बजाजी मुसलमान बन सके। उसने कहा रौशन?

'अब्बाजान।'

'तुम्हारा जीवन अब बजाजी के हाथ में है।'

'यह कैसे अब्बाजान?'

'अगर वह इस्लाम को मान कर मुसलमान बन जाय तो तुम और वह दोनों जिन्दा रह सकते हो।'

'हाय अब्बाजान! आप यह क्या फ़रमा रहे हैं?'

'मजबूर हूँ बेटी! मैं बड़ी ख़तरनाक हालत में हूँ। मेरा सिर चक्कर खा रहा है। ऊपर से मुग़ल दबा रहे हैं। इधर शिवाजी ने तमाम मुल्क लूट लिया। बुढ़ापे की वजह से वह ताक़त मुझ में नहीं है, अपने सरदारों पर मेरा विश्वास नहीं है, तुम्हारी तरफ़ देखकर सुख की साँस लेता था, मगर तुमने भी उस सुख का ख़ात्मा कर दिया। बजाजी तुमको प्यार करता है। अगर वह मुसलमान बन गया तो मेरी मदद करेगा और दखिन की यह छोटी सी इस्लामी सल्तनत क़ायम रह सकेगी।'

रौशनआरा चिन्तित हो गई।

निज़ाम ने कहना आरम्भ किया—इसमें तीनों का लाभ है, शनआरा। तुम्हारा जीवन सुखमय होगा। इस्लामी सल्तनत की

रक्षा होगी। मेरा बुढ़ापा आराम से कटेगा। मेरा कहना मानोगी तो कल ही उसके साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जावेगा। लालबाग़ के महल में दोनों आराम से रहना। किसी बात की चिन्ता न रहेगी। और अगर तुमने मेरा कहना न माना तो मेरे शाही हुक्म से कल ही उसका क़त्ल कर दिया जावेगा। तुम ज़िन्दगी भर रोती रहोगी और मैं तुम्हें देख कर रोता रहूँगा। मेरी सल्तनत मुझे देखकर रोती रहेगी। बोलो रौशन, क्या पसन्द है, रोना या हँसना ?

रौशनआरा ने मन ही मन कहा—बड़ी कठिन समस्या है, मेरे दिल में अब दो मुहब्बतें लड़ रही हैं। किसकी तरफ़दारी करूँ, पिता की मुहब्बत आज अपने एहसानों का बदला चाहती है और प्यारे की मुहब्बत अपनी तरफ़ खींच रही है। मैं एहसान-फरामोश नहीं होऊँगी। पिता के प्रेम की मैं बन्दी हूँ, उसे निभाना मेरा कर्तव्य है। उसने शान्त होकर निज़ाम से कहा—कोशिश करूँगी अब्बाजान, फिर वही होगा जो खुदाताला को मञ्ज़ूर होगा।

जाओ बेटी, समझना कि शहीद होने जा रही हो।

(३)

या खुदा, कल मैं उन्हें आज़ाद कर देने का वचन दे आई थी और आज उनसे किस मुँह से कहूँगी कि मुसलमान बनो। अभी कल तो मैं स्वयं हिन्दू बनने जा रही थी और आज उन्हें मुसलमान बनाने उतारू हो गई हूँ। वह क्या कहेंगे ? वह मर जायँगे, पर मुसलमान न बनेंगे। खैर, चलूँ तो सही। कहूँगी, तुम्हारे धर्म की अपेक्षा मैंने तुम्हारे प्राणों का मोल अधिक समझा। वह उठी।

आकाश में काली घटाएँ छा रही थीं। पानी रिम-झिम बरस रहा था। राजधानी के सिंह द्वार पर आधी रात का घण्टा बज रहा था। रौशनआरा ने बजाजी के कमरे में प्रवेश किया। वह उसकी बाट ही जोह रहे थे। रौशनआरा ने हँसने का विफल प्रयत्न किया, पर हँसी

के बदले करुणा बिखर पड़ी। वह अपने को न सँभाल सकी—सिसकियाँ भरने लगी।

'क्या है, शाहज़ादी, तुम रोती क्यों हो?'

सिसकियाँ बढ़ने लगीं।

'प्यारी रौशन?'—बजाजी उठ कर एक कदम आगे बढ़ गये।

अबकी उसने अपना लता सा शरीर बजाजी के दीर्घकाय शरीर पर ढाल दिया और सिसक-सिसक कर रोने लगी।

'रौशन क्यों रो रही हो प्यारी?'

रूँधे हुए कण्ठ से उसने कहा—'प्यारे बजाजी······' वह आगे न बोल सकी। आँखों से अविरल अश्रुधारा बह चली।

अपने दुपट्टे से आँसू पोंछ कर बजाजी ने कहा—शान्त हो शाहज़ादी। कहो तुम्हें क्या हो गया। मालूम होता है, बादशाह को सारी बातें मालूम हो गईं, फिर भी तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब तक बजाजी के तन में प्राण है, तुम्हें निर्भय रहना चाहिये।

अबकी कुछ शान्त होकर रौशनआरा ने कहा—'बजाजी तुम मुझे प्यार करते हो?'

'रौशन, हृदय चीर कर दिखाने की कला सीख पाता तो मैं उसे चीर कर रौशन की दूसरी प्रतिमा तुम्हें दिखा देता। परन्तु फिर से इस प्रश्न की आवश्यकता कैसे आ पड़ी?'

'बजाजी, मैं इस समय धर्म-सङ्कट में हूँ।'

'रौशन! मैं तुम्हारा हूँ। तुम्हारे लिए मैं कठिन-से-कठिन कार्य करने को भी तैयार हूँ।'

'बजाजी! मेरे हृदय में भयानक क्रांति मच रही है। मेरी आत्मा घबरा उठी है। मैं स्वयं जब वह विचार ध्यान में लाती हूँ, काँप उठती हूँ। कैसे कहूँ मेरे प्यारे।'

'क्या पागल हो गई हो ? तुम्हारी ऐसी अवस्था किसने की ?'

'कैसे कहूँ। वह बात बड़ी भयानक है सुनोगे तो मुझे दुत्कार दोगे, ठोकर मार दोगे। तअज्जुब नहीं मेरी जान ले लो।'

'कुछ कहो भी तो सही। ऐसी क्या बात हो गई ?'—उसे आलिङ्गन करते हुए बजाजी ने कहा।

'छोड़ो, मुझे छोड़ दो। मैं कहूँगी, जरूर कहूँगी। कहने के लिए ही आई हूँ।' अपने आँचल से आँसू पोंछ कर उसने धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—'हृदय को कड़ा कर लो बहादुर, और सुनो, इस दासी के लिए तुम्हें मुसलमान बनना होगा।'

'रौशन, क्या तुम मुझ से ठट्ठा कर रही हो ?'

'नहीं, इस्लाम के पुजारी मेरे पिता ने तुम्हें मुसलमान बनाने की आज्ञा दी है।'

'और तुमने उसे मान लिया ? रौशन, क्या तुम उस समय मुझे, मेरे प्यार को भूल गई थीं। जाओ, मेरे सामने से हट जाओ।'—अपने बलिष्ट हाथों से उसे झकझोर कर ढकेलते हुए बजाजी ने क्रोध से फिर कहा—वाह रे त्रिया-चरित्र ! अन्त में गई अपनी जातपर। रौशनआरा कल तूने कहा था कि कल आकर तुम्हें मुक्त कर दूँगी, दोनों भाग चलेंगे। और आज तू मुझे मुसलमान बनाने आई है।'

'बजाजी, इसमें कोई दगाबाजी की बात नहीं है, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ और दिलोजान से प्यार करती हूँ।'

'मुझे ऐसे प्यार की आवश्यकता नहीं है, मैं ऐसे नारकीय प्यार को ठोकर मारता हूँ, समझीं।'

'बजाजी !'—रौशनआरा ने कातर शब्दों में कहा—'सच कहती हूँ, खुदा क़सम सच कहती हूँ। अब्बाजान ने कहा है कि तुम मेरा कहना न मानोगी तो कल बजाजी का सिर धड़ से उड़वा दूँगा।' मैं घबरा गई प्यारे, क्या करती ! उन्हें आपको मसलमान बनाने का विश्वास

न दिलाती तो, कल ही आपका सर काट दिया जाता। आपके धर्म की बनिस्बत आपके प्राणों की कीमत मैंने ज्यादा समझी।'

'किंतु मैं तो धर्म की वेदी पर हँसते-हँसते प्राण उत्सर्ग कर दूंगा, वह तो हम भारतीयों का बायें हाथ का खेल है। मृत्यु का भय उन्हें धर्म के मार्ग से विचलित नहीं कर सकता।'

रौशनआरा ने ज़रा ठहर कर कहा—बजाजी! मैं भी मरना चाहती हूँ। मुझे मार डालो। किन्तु मारने से पहिले एक बार प्रेम-भरे शब्दों में कह दो कि 'रौशन, मैं तुझे प्यार करता हूँ।' वह उत्तेजित हो उठी। आवेग भरी वह बजाजी से लिपट गई और नेत्रों में आँसू भर बोली—बजाजी, प्यारे मैं मरूंगी। अपने अरमान, अपनी हसरतें, दिल में छिपाये हुए मर जाऊगी। अगर तुम धर्म पर मरना जानते हो, तो मैं भी प्रेम की बेदी पर निछावर होना जानती हूँ।'

बजाजी शान्त हो गये। उनका हृदय युवक-हृदय था। रमणी-रहस्य से अपरिचित वे भोले-भाले नवयुवक थे। रौशनआरा के इन शब्दों ने उनके हृदय को रुला दिया। उनकी आँखों से दो गरम अश्रु-बिन्दु रौशनआरा के गालों पर टपक पड़े। रौशनआरा धीरे-धीरे अलग हो गई। बजाजी स्तब्ध थे। नेत्र वेदनामय थे।

रौशनआरा ने कमर से कटार निकाली और बोली—'मैं जाती हूं प्यारे! इस घटना को समझना वीणा की झङ्कार थी, हवा में लय पा गई; गाने की मधुर तान थी, अन्त में विराम पा गई!,—वह कटार को हृदय में घुसेड़ना ही चाहती थी कि बजाजी ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—ठहरो, यह तुम क्या करती हो!

'नहीं, मेरे अपराध का यही योग्य दण्ड है, मुझे मरने दो।'

बजाजी ने कहा—रौशन, शाहज़ादी, मेरे हृदय में तूफान उठ रहा है, मेरी आत्मा तिलमिला रही है। अज्ञात भय की आशङ्का मेरे हृदय में ताण्डव नृत्य कर रही है, एकान्त चाहता हूं मैं, मुझे शान्ति

चाहिए। मेरा सिर चकरा रहा है, मेरे मन में घनघोर युद्ध छिड़ गया है।

तलवारों की झनझनाहट तथा तोपों की गड़गड़ाहट में चट्टान की तरह अचल खड़े रहने वाले सेनापति बजाजी विकल होकर एक बालक की भाँति बिलख पड़े। प्रेम के विकृत स्वरूप ने उन्हें कातर बना दिया। रौशनआरा इस समय करुणा तथा विवशता की पुतली बन गई थी। उसने कहा—'अब्बाजान के दिल में कोई बात समाने पर वह किसी की नहीं सुनते। तुम मुसलमान न बने तो वह कल तुम्हें मार डालने में जरा भी नहीं हिचकिचायेंगे। फिर मैं तुम्हारे बिना कैसे जीवित रह सकूँगी? नहीं, मैं तुम्हारे पहिले मरूंगी। हिन्दुवानियाँ पति के पहिले मर जाना सौभाग्य समझती हैं। मैं भी हिन्दुआनी हो चुकी हूँ। मेरे लिए भी वही मार्ग है।' आँखों में सारी करुणा—सारा प्रेम एकत्रित कर वह बजाजी की ओर देखने लगी।

'रौशन, निज़ाम से एक दिन की मुहलत और माँग लो, अभी जाओ, मुझे एकान्त दो।'

'पिता जी मोहलत न देंगे। पर जो हो, मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूंगी। फिर जो मेरी किस्मत में बदा होगा, होगा।'

वह जाने लगी, कुछ दूर जाने पर बजाजी ने पुकारा, रौशन इधर आओ। वह आ गई! बजाजी के चेहरे पर उत्तेजना नाचने लगी—आँखों में बेहोशी खेलने लगी। आवेग में उन्होंने कहा—'रौशनआरा, जाओ, निज़ाम से कह दो कि मैं मुसलमान बनने को तैयार हूँ। जगत का राज्य मुझे नहीं चाहिए। स्वतन्त्रता पाने के लिए हजारों नववयुक जान पर खेल रहे हैं। मेरे अकेले के न रहने से उसमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। मैं धर्म की भी परवा नहीं करता। मुझे रौशनआरा चाहिए मैं रहूँ, मेरी रौशन रहे और रहे हमारा मधुर प्रेम-मिलन।'

रौशनआरा ने आश्चर्य-चकित दृष्टि से बजाजी को देखा। उसकी आँखों में अनन्त आनन्द नाच रहा था।

(४)

कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे ही दिन बजाजी को इस्लाम की दीक्षा दे दी गई तथा रौशनआरा का उसके साथ निकाह भी हो गया।

कितने ही दिन आमोद-प्रमोद में व्यतीत हो गये। किन्तु किसी को शान्ति नहीं प्राप्त हुई। जिस प्रेम सुधा के प्याले को उन्हों ने पीना प्रारम्भ किया था, वह वासना तथा विकारों से लबालब भरा था। दोनों का हृदय शान्ति के लिए छटपटाने लगा। दोनों ही शांति चाहते थे, किंतु शांति पाने के लिए जिस मार्ग का अवलम्बन किया था, उसमें अनन्त अतृप्ति थी। वास्तव में सच्चे प्रेम की साधना विरह तथा वेदना से होती है। उसमें ही अनंत मिलन है, अनंत शांति है। प्रेम का चिरस्वरूप उसी से पहिचाना जाता है। त्याग की तपस्या को भूल कर दोनों वासना के प्रवल प्रवाह में बहे जा रहे थे। वासनाओं की तृप्ति का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जाता था, त्यों-त्यों वह अधिक से अधिक प्रबल होती जाती थी। दोनों को पता नहीं था, वे किधर और कहाँ जा रहे हैं। दोनों प्रेम के पवित्र प्राङ्गण से निर्वासित किये जाकर वासना के अशान्त रेगिस्तान में फेंक दिये गये थे, जहां शान्ति का नाम लेना ही हास्यास्पद है। आंखें होने पर भी दोनों अंधे थे, शान्ति के सत्य संसार पर आवरण पड़ गया था। वासना का मैदान खुला था, जिसका आदि है न अन्त। जहां अतृप्ति का अन्धकार तथा विकारों की भयानक चट्टानें थीं, उन चट्टानों से टकरा कर दोनों आकुल हो उठे! कभी-कभी दोनों एक दूसरे पर झल्ला उठते। दोनों के स्वभाव में कुछ चिड़-चिड़ापन आ गया था।

आज रौशनआरा किसी कारणवश कहीं चली गई थी। बजाजी

मुँह लटकाये बाग़ में एक पत्थर की चौकी पर उदास मन से बैठे थे। आज प्रभात से उनके मन में स्वराज्य के विचार आ रहे थे। जिस अनन्त साधना की ओर वह अग्रसर हो रहे थे, उसका यह विकृत परिवर्तन आज उनको बेचैन किये हुए था। उनके हृदय में क्रान्ति का बवण्डर उठना ही चाहता था कि इसी समय एक फकीर उनके सामने आकर खड़ा हो गया। बजाजी ने उससे पूछा—साईं साहब, आप क्या चाहते हैं?

'बाबा! साईं भीख के सिवा और क्या चाहेगा?'

'भीख? अच्छा, ठहरिये!'

अल्प अवधि के पश्चात् ही एक तश्तरी में कई अशर्फियाँ लेकर बजाजी बाहर आये। झुक कर सलाम करके तश्तरी नम्रतापूर्वक फ़क़ीर के सामने की। परन्तु फ़क़ीर का चेहरा क्रोध से लाल हो गया। नेत्रों से मानों आग बरसने लगी। वह बजाजी के निकट जाकर बोला—फ़क़ीर लोग देशद्रोही, धर्मद्रोही, राजद्रोही के हाथ की भीख नहीं लेते। पाजी, हरामख़ोर! यवन-कन्या के प्रेम में फँस कर धर्म को गँवाने वाले कुल-कलङ्क, मेरे आगे से निकल जा; नहीं तो··· ·····।''

'साईं साहब, मुझे क्षमा करो!'

'हिन्द-माता यवनों के अत्याचार से कातर हो उठी है। हिन्दू-धर्म त्राहि-त्राहि पुकार उठा है। देश का बच्चा-बच्चा धर्म तथा स्वतन्त्रता के लिये लड़ रहा है। और तू, जिस पर पूरा विश्वास था, वह बजाजी! मेरा शूर सेनापति इस तरह······।'

'कौन महाराज? श्री शिवाजी महाराज!'

'हाँ, बजाजी! मैं ही हूँ। वाह भाई वाह! खूब स्वाँग बनाया, खूब विश्वासघात किया, जिसकी कभी तुमसे आशा न थी। बजाजी, तुम लोगों के बाहु-बल ही पर तो मैंने स्वराज्य की नींव डाली थी। क्या इन परिवर्तनों से वह चिर-स्थायी रह सकती है? सारा महाराष्ट्र

तुम्हारे इस धर्म-परिवर्तन से दुखी है, परमपूज्य माता जी (जीजाबाई) तुम्हारे लिये आँसू बहा रही हैं। उन्हीं की आज्ञा से मैं तुम्हें लेने यहाँ आया हूँ। क्या अब भी तुम इस नरक से निकलना नहीं चाहते ?'

'हाय ! महाराज मैं नीच हूँ। नारकी हूँ, पातकी हूँ, मुझे बचाओ। मुझे ले चलो। मैं घबरा गया हूँ। इस नरक से ऊब उठा हूँ। परन्तु मैं तो मुसलमान हूँ। मुझे कौन हिन्दू कहेगा ? महाराज ! मुझे अपने में मिला लो, प्यारे हिन्दू-धर्म में ले लो। महाराज ! क्या मैं फिर हिन्दू हो सकता हूँ ? उन्होंने शिवाजी के पैर पकड़ लिये ?'

'उठो बजाजी, उठो ! तुम्हें कौन मुसलमान कहेगा ? तुम्हारी आत्मा हिन्दू है। पश्चात्ताप से वह और भी उज्ज्वल हो उठी है। तुम हिन्दू ही हो। अब अधिक समय नहीं है। हमको यहाँ से शीघ्र चलना चाहिये।'

शिवाजी के पीछे-पीछे बजाजी भी शाही बाग के बाहर हो गये। पिंजड़े में बन्द पक्षी स्वतंत्रता की हवा लगने पर स्वच्छन्द गति से पर फैलाये आकाश में उड़ा जा रहा था।

इतिहास कहता है कि बजाजी को लेकर शिवाजी रायगढ़ आये और उसे शुद्ध करने के लिये काशी से महाविद्वान् पण्डित बुलाये तथा उनकी अनुमति से उन्हें फिर हिन्दू-धर्म में ले लिया। समाज उनसे घृणा न करे, अतएव अपनी बहिन का विवाह भी उनके साथ कर दिया।

(५)

रात के दस बज चुके हैं। चन्द्रदेव अस्ताचल के निकट जा पहुँचे हैं। पश्चिम दिशा में रक्त-रञ्जित लालिमा छाई है। प्रकृति उदास है और सृष्टि निस्तब्ध। बजाजी अपनी नव-परिणीता पत्नी के साथ प्रेमालाप कर रहे हैं। उनकी पत्नी ने आकाश की ओर देख कर कहा—'चन्द्रमा डूब रहे हैं, प्रकृति कैसी भीषण हो उठी है। मैं जब उधर

देखती हूँ, डर जाती हूँ !

बजाजी ने मन्द स्मति करते हुए कहा—'स्त्रियाँ स्वभाव से ही डरपोक होती हैं । चन्द्रदेव के वियोग में प्रकृति आँसू बहा रही है ।'

'किन्तु नाथ, यह आँसू तो रक्त-रञ्जित हैं । अज्ञातभय की आशङ्का से मैं घबरा उठती हूँ । हृदय कहता है, कोई दुःखपूर्ण घटना घटने वाली है ।'

बजाजी ने बात टालते हुए कहा—उँह, बादल आने लगे । चलो, अन्दर चलें ।

इसी समय एक दासी ने आकर कहा—बाहर एक स्त्री आई है अपना नाम रोशनआरा बताती है । वह अन्दर आना चाहती है और पगली-सी जान पड़ती है ।

रौशनआरा का नाम सुनते ही बजाजी के हृदय पर भूतकाल की सारी घटनाएँ चित्रपट की भांति नाचने लगीं ।

उनकी पत्नी ने कहा—यह रौशनआरा कौन है ? क्या वही··· ।

बजाजी ने मानों कुछ सुना ही नहीं । वह पागल की भांति अवाक् हो गये । उनकी पत्नी ने यह अवस्था देख दासी से कहा—पार्वती, महाराज की तबियत ठीक नहीं है । जाओ, उससे कह दो कि दिन में आना ।

पार्वती जाने लगी । बजाजी ने चिल्ला कर कहा—नहीं-नहीं, आने दो, उसे भेज दो ।

रौशनआरा आई । बजाजी ने उसे देखा, पर पहिचाना नहीं । वह आते ही कहने लगी—मैं अपने प्रियतम से अन्तिम भेंट करने आई हूं । बजाजी मेरी तरफ धिक्कार की दृष्टि से न देखो ।

बजाजी ने गद्गद् होकर कहा—रौशनआरा, शाहजादी ! तुम्हारी वह अतुल रूप-राशि कहाँ विलीन हो गई ?

वह कहने लगी—तुम्हारे आने के पश्चात् मैं प्रेम का मूल्य समझा। मेरे हृदय में एक अग्नि-कुण्ड धधकने लगा। विरह की अग्नि उसमें धायँ-धायँ जलने लगी। मैं समझ गई कि वह त्याग की वेदी है। प्रेम के परम तत्त्व को पाने के लिये इसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। मैं अपने रूप की आहुतियाँ देने लगी। अन्तरतम से एक आदेश मिला अन्तिम आहुति अपने प्यारे के सम्मुख देना। आहुति देने के लिए अब मेरे पास कुछ भी शेष नहीं है। यह हड्डियों का ढांचा बचा है। उसे जैसे-तैसे सम्हाल कर यहाँ तक ले आई हूँ।

उससे बोला नहीं जाता था। साँस लेकर उसने फिर कहा—अब समय अधिक नहीं है, मेरी एक ही इच्छा है, एक ही अभिलाषा है। मेरे अपराध क्षमा कर दो। मैं जान गई, मिलन में सुख नहीं है। सुख की आशा मृग-तृष्णा मात्र है। दुःख में ही सुख है। विरह में ही अनन्त मिलन है, अनन्त शान्ति है। प्रेम का अनन्त तत्त्व उसी में है। वह अधिक न बोल सकी, जमीन पर लेट गई।

'रौशनआरा, अब भी तुम मेरे पास रह सकती हो।' रोते हुए बजानी ने निष्कपट भाव से कहा!

उनकी पत्नी भी दया से प्रेरित होकर बोली—हाँ देवीजी, आप रह सकती हैं।

'तुम साक्षात् सती हो, किन्तु बहिन, मैं बहुत रास्ता तय कर चुकी हूँ। मैं उस प्रदेश के निकट पहुँच चुकी हूँ जहाँ मानवी गति कुण्ठित हो जाती है। बजाजी! नहीं-नहीं, अब मैं कहूँगी प्यारे, मेरी एक अन्तिम अभिलाषा है।'

'क्या?'

'तुम्हारी गोद में प्राण विसर्जन करूँ।'

बजाजी ने आनन्द और प्रेम के साथ उसका मस्तक अपनी गोद में ले लिया। रौशनआरा ने सुख की साँस लेकर कहा—'जाती हूँ,

नाथ ! अपराध······ मा···फ ! मुझे भूलना नहीं । विदा······।' कहते-कहते रौशनआरा की आत्मा अनन्त में विराम पा गई ।

बजाजी की पत्नी ने कातर शब्दों में कहा—'गई बेचारी !' बजाजी की आखों से आँसुओं की धारा बहने लगी । बादल भी पानी बरसाने लगे, मानों वह भी रो रहे हों । चन्द्रदेव अस्ताचल की ओट हो गये । भीषणता और भी बढ़ गई ।[1]

———

[1] एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर ।